साहित्य-जगत के विनोबा : बख्शीजी
नर्मदाप्रसाद खरे
साहित्य-जगत के विनोबा
बख्शीजी
नर्मदाप्रसाद खरे

साहित्य जगत के विनोबा : बख्शी जी

सम्पूर्ण बख्शी-साहित्य

निबन्ध

अंतिम अध्याय, मेरे प्रिय निबन्ध, पद्म-वन, कुछ, यात्री, और कुछ, बिखरे पन्ने, तुम्हारे लिए, बख्शी जी के निबन्ध, प्रबन्ध-परिजात, मेरा देश, समस्या और समाधान ।

समीक्षा

विश्व-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-विमर्श, हिन्दी कथा-साहित्य, प्रदीप, चर्चा, हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा

कथा

झलमला, कनक-रेखा, कथा-प्रसून, कथाचक्र, भोला, अञ्जलि, भोला

काव्य

शतदल, अश्रु-दल

संस्मरण

जिन्हें नहीं भूलूँगा, मेरी अपनी कथा

विविध

त्रिवेणी, तीर्थं-रेणु, पंच-पात्र, मकरन्द-विन्दु

साहित्य-जगत के विनोबा : बख्शी जी

नर्मदाप्रसाद खरे

●

प्रथम संस्करण : १९७२
●

●
प्रकाशक
लोकचेतना प्रकाशन
१८४, शहीद स्मारक पथ
जबलपुर
●
मुद्रक
इलाहाबाद प्रेस,
३७०, रानी मण्डी
इलाहाबाद-३

मूल्य :
पाँच रुपए मात्र
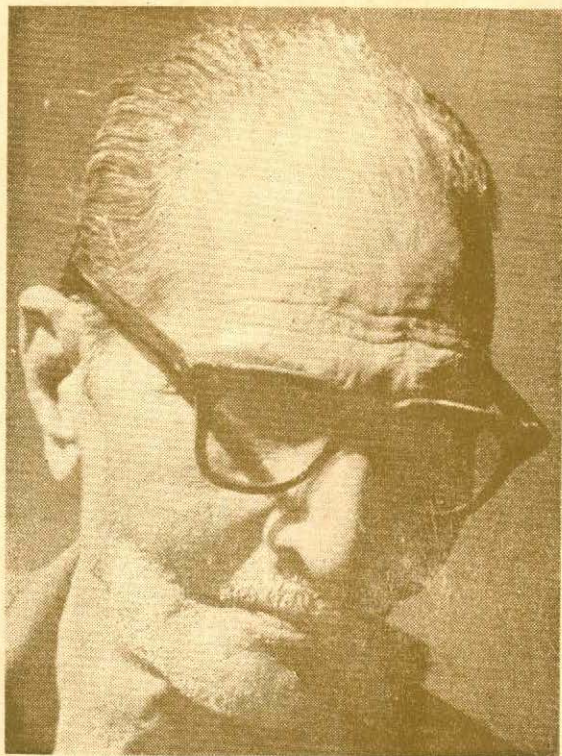
रामानुजलाल श्रीवास्तव

बख्शी जी के अनुज और मेरे अग्रज
रामानुजलाल श्रीवास्तव
को सादर

क्रम

•
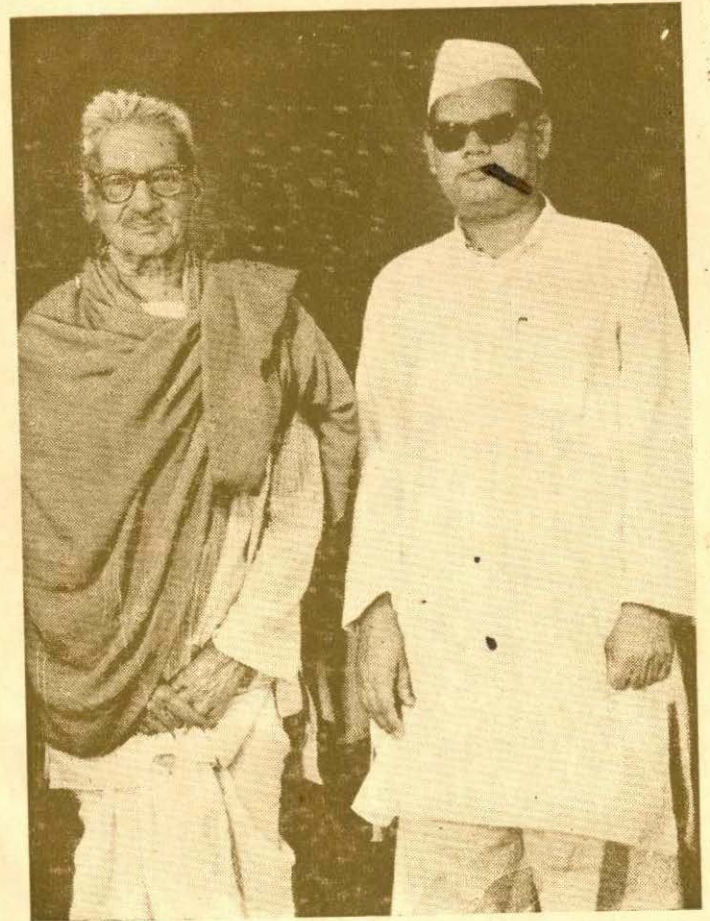
बख्शी जी के साथ लेखक

सन्त-परम्परा के प्रतीक

⊙ जिसके मस्तक पर काल का अक्षय टीका लगा है, वही अपने जीवन-पथ पर अपना अक्षय पद-चिह्न छोड़ जाते हैं।

⊙ हम जैसे अज्ञात रूप में प्रकट होते हैं, वैसे ही अज्ञात भाव से विलीन हो जाते हैं।

⊙ संसार की यात्रा होती रहती है। किसी के कार्य में क्षण भर के लिए बाधा नहीं होती। किसी की गति में पल भर के लिए रुकावट नहीं होती।

⊙ सांसारिक ऐश्वर्य के साथ कर्म-जीवन का सम्बन्ध है, पर भाव-जीवन अपने लिए दूसरा ही ऐश्वर्य बना लेता है।

⊙ मैं ने कभी तथ्य के राज्य में विचरण किया है और कभी कल्पना के राज्य में। दोनों में मैं ने सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन का अनुभव किया है। दोनों मेरे लिए समान रूप से सत्य हैं।

⊙ मैं ने गद्य-पद्य में कितनी ही रचानएँ की हैं। उनके सार न रहने पर भी उन्हीं में मेरे जीवन का अधिकांश समय व्यतीत हुआ है, उन्हीं में मेरी महत्वाकाँक्षाएँ, आशाएँ और लालसाएँ लीन हैं। उन्हीं पर मेरा ज्ञान, अभिमान और आत्म-गौरव व्यवस्थित है। उन्हीं में मेरी रुचि, मेरी अनुभूति और भावनाएँ हैं। उन्हीं में मेरे निजत्व का विकास हुआ है।

⊙ न तो जीवन-काल में ही किसी की दृष्टि हम पर पड़ती है और न मृत्यु होने पर कोई हम पर दृष्टिपात करता है।

□□

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी हिन्दी गद्य के आधार-स्तम्भ थे। सन् १९११ में जबलपुर से प्रकाशित होने वाली 'हितकारिणी' में उनकी प्रथम रचना प्रकाशित हुई थी। तब से वे निरन्तर साठ वर्षों तक साहित्य की सभी विधाओं में लिखते रहे। निबन्धकार के रूप में तो उनकी देन अनुपमेय है।

बख्शी जी विशुद्ध आनन्द-प्राप्ति क लिए ही निस्पृह भाव से लिखते थे। उनके ही शब्दों में, 'सभी साहित्यकारों में आनन्द की भावना ही प्रबल होती है। रचना में जो चिरन्तन आनन्द की यह अनुभूति होती है, उससे क्षुद्र लेखक होकर भी मैं वंचित नहीं हो सकता हूँ। अच्छी हों या बुरी, मुझे भी अपनी रचनाओं से आनन्द अवश्य होता है। मृत्यु के बाद जो उत्तम कीर्ति या प्रतिष्ठा प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों को मिलती है, उसकी मुझे चाह भी नहीं है। मुझे इस कल्पना से सन्तोष नहीं हो सकता कि मेरी मृत्यु के बाद मेरे निबन्धों का आदर होगा। इस भावना से प्रेरित हो कर मैंने आज तक एक भी निबन्ध नहीं लिखा और न लिखूँगा। मैंने जो कुछ लिखा है और लिख रहा हूँ उसी में मुझे तृप्ति होती है, आनन्द

होता है, सन्तोष होता है। मेरे लिए यही गौरव की बात है कि मैं साहित्य के क्षेत्र में कुछ काम कर रहा हूँ, कुछ लिखता जा रहा हूँ।'

[मेरी अपनी कथा : पृष्ठ १५१

बख्शी जी वास्तव में सन्त-परम्परा के प्रतीक थे। १५ अप्रैल सन् १९५१ में जबलपुर में आयोजित बख्शी-अभिनन्दन-समारोह के अध्यक्ष-पद से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गद्गद स्वर से कहा था—'बख्शी जी जैसे सन्तों ने ही मूक साधना के द्वारा हिन्दी को प्राण-दान दिया है। सन्तों की निःस्वार्थ साधना का ही परिणाम है कि हिन्दी राष्ट्र और राज्य-भाषा है। आश्चर्य होता है कि बख्शी जी जैसे साहित्य-सन्त विंध्य-शिखर पर खड़े वृक्षों की भाँति न जाने कहाँ से प्राण-रस ग्रहण करते हैं।'

सर्व प्रथम सन्१९२९ में जबलपुर में ही मैं ने बख्शी जी के दर्शन किये थे। धीरे-धीरे परिचय ने आत्मीयता का रूप ग्रहण कर लिया और वे मेरे संरक्षक एवं पथ-पदर्शक बन गये। अपनी सहज उदारतावश वे मुझे सदा अपना अनुज और सच्चा साथी मानते रहे। वे अब हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप अब भी हृदय-पटल पर ज्यों-की-त्यों अंकित है।

अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन्१९४९ में बख्शी जी को 'साहित्यवाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया और उन्हें बार-बार लिखा गया कि वे सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हैदराबाद पहुँच कर यह सम्मान स्वीकार करें। इसके बाद सम्मेलन के पदाधिकारियों ने मुझे लिखा कि मैं उन्हें जैसे भी हो हैदराबाद ले आऊँ। मैं ने उनसे हैदराबाद चलने का आग्रह किया तो उन्होंने अंत में यह कह कर निराश कर दिया—'एक तो मैं यह सम्मान पाने योग्य नहीं हूँ, दूसरे तुम जानते हो कि मैं बड़ा यात्रा-भीरु हूँ। इतनी लम्बी यात्रा मुझ से न

होगी।' इसी प्रकार जब सन् १९६० में सागर विश्वविद्यालय द्वारा उन्हें डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की गयी थी तो तत्कालीन उपकुलपति पं० द्वारका प्रसाद जी मिश्र को स्वयं बख्शी जी को राजनांदगांव से दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर सागर बुलाने के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ी थी। इन दो घटनाओं से स्पष्ट है कि वे आदर-सम्मान से सदा दूर भागते रहे। उनकी रहन-सहन, उनका स्वभाव, उनके विचार साधु-सन्तों के समान थे। उन्हें देख कर ऐसा अनुभव होता था कि वे मध्ययुगीन भक्ति-सम्प्रदाय वाले, आत्मतृप्ति की दीप्ति से प्रोज्ज्वल एक संत हैं, जो आज के अभावों के ईंट-पत्थर से बने गृहस्थाश्रम में आ बसे हैं।

काव्य-क्षेत्र में जो रूप राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी का था—सौम्य शान्त, शुद्ध भारतीय—उससे मिलता-जुलता रूप ही गद्य-क्षेत्र में बख्शी जी का था। न किसी के लेने में, न किसी के देने में, अपने राम से राम, अपने काम से काम।

बख्शी जी में न तो पंत के समान विदेशी फैशन का मोह था, और न अज्ञेय के समान सिल्किन व्यवहार-पटुता। वे तो छत्तीसगढ़ के 'बासी खाने वाले शहरी किसानों में छिप जाते थे, उनके समूह में ऐसे मिल जाते थे कि केवल बाहरी वेश-भूषा के आधार पर उनको खोज निकालना कठिन था।

मँझोला-सा कद। दुर्बल शरीर। गेहुँवा रंग। तीव्र नासिका। एकाध दाँत। पके बाल। सप्ताह में दो-एक बार बनने वाली दाढ़ी। खुला सिर। बड़ी-बड़ी किन्तु अवस्था की झुर्रियों में झुलसी पलकों में हँसती आँखें, आँखों में अनुभव की मणियों की दीप्ति। 'गहिर वाणी' का गम्भीर प्रशान्त स्वर। देह ढकने के उद्देश्य मात्र से ज्यों-त्यों डाले गये बेतरतीब कपड़े। लम्बा बंद कालर का कोट या कुरता। घुटनों तक धोती मोटी-पतली, साफ-सुथरी, मैली-कुचैली फिन्ले की या खद्दर की—जो हो, जैसी हो सिर माथे। पाँव में हल्की सी धूल के रंग में रँगी चप्पल या नंगे पैर

ही सही। उन्हें अपने शरीर को आकर्षक बनाने का कोई ध्यान नहीं रहा।

सब मिलाकर पुरानेपन, निपट पुरानेपन की छाप। बाहरी बन्दन-वारों, मंगल-कलश, चौक-आरती का काम नहीं, केवल भीतरी कंचन-रूप की ही चमक थी—जैसे किसी बाहर से उजड़े, वीरान और निर्जन दिखने वाले खण्डहर के भीतर देवत्व की प्रतिमा आसीन हो।

हृदय में शिशु-सुलभ सारल्य था किन्तु इस सरलता में शिशु-सुलभ चंचलता नहीं थी, जैसे पहाड़ों में जोर से बहने वाली जल-धारा मैदान में आने पर शान्त हो गई हो। अपने विचारों के समुद्र की गहराई में डूबना-उतराना ही उन्हें अधिक प्रिय था। उनके पास उठने-बैठने वाले भली-भाँति जानते हैं कि चर्चा करते-करते कैसे उनकी भाव-मुद्रा गम्भीर हो जाती थी और सदा साथ रहने वाली बीड़ी की खाकी पत्ती जल कर आधी दूर तक सफेद राख का रंग ले लेती थी।

अनायास ही बदल जाने वाली इस भाव-मुद्रा का क्या रहस्य था? देखने वाला देख रहा है कि वे अपने-आप की अतल गहराई में डूब गये हैं, हाँ वे डूब गये जरूर। और ऐसी गहराई में जहाँ की थाह पाना हमारे लिए कठिन है। परन्तु वे डूब कर भी सतह पर हैं, जहाँ उन्हें घर-संसार की हल्की-फुल्की विरल बातों को परख लेना है, उन्हें पकड़ कर भाषाबद्ध करना है, भाषाबद्ध रचना को सजीव बनाना है।

और इसीलिए वे जिस कथा-पात्र की रचना करते थे, वह शब्दों का आवरण उतार, कागज की भूमि से उभर और उठ, हमारी आँखों के सामने खड़ा हो जाता था तथा उसके आँसू, उसकी हँसी, हमारे आँसू और हमारी हँसी हो जाते थे।

लेकिन ऐसे ही पात्रों से जब बख्शी जी का व्यावहारिक जीवन में सामना हो जाता, तब उनके होश फाख्ता हो जाते। कथा में भले ही वे जटिल-से-जटिल पात्र की रचना करते और उसे बहुमुखी परिस्थितियों से

निकाल भी लेते, परन्तु वैसी ही स्थिति में स्वयं हार जाते, दुनिया के व्यावहारिक मार्गों में बख्शी जी सदा पीछे ही रहे।

उनके सारे व्यक्तित्व में एक अद्भुत ढंग का खोयापन-सा था, उदासी की छाया उनके चेहरे पर बहुधा मँडराती रहती थी। क्या भीतर भी ऐसी ही उदासी थी? नहीं। उदासी की चट्टानों में भीतर ही भीतर प्रसन्नता की गुफाएँ थीं। उनकी जीवन-यात्रा की दूरी, पीड़ा के पग बढ़ा कर ही पूरी की गयी थी। उनकी नस-नस पर ही मानो दुनिया की सारी क्रूर-वृत्तियाँ बोझ बन कर रखी रहती थीं। आठों प्रहर वे भावुकता के प्रहार सहते रहते। इतना भी क्या भावुक होना कि गुलाब को इसी-लिए प्यार न किया जाँवे कि कहीं हमारे स्पर्शमात्र से उसकी पंखुड़ियाँ न मुरझा जावें। क्या ऐसी ही भावुकता से प्रतिभा का सदा मेल होता आया है?

ऐसे व्यक्तित्व में सांसारिक महत्वाकांक्षा कभी उभर नहीं पाई, इसीलिए आकाँक्षाओं के कोड़े खाकर उनके जीवन-रथ के घोड़े कभी सरपट नहीं दौड़े। संतोष ही अमृत है, इसी तृप्ति-संजीविनी को पाकर बख्शी जी ने अपने आपको धन्य माना। आत्म-विज्ञापन की कला उन्होंने नहीं सीखी, कदाचित वे सीख ही नहीं सकते थे और इसीलिए दुनिया की राह पर चलते-चलते पूरे ७७ वर्ष हो जाने पर भी वे अपना प्राप्य न पा सके।

बख्शी जी के संकोची स्वभाव के सम्बन्ध में चुटकुले प्रसिद्ध हैं। राजमहल में, मंत्री के भवन में, बड़े प्रकाशक की कोठी में प्रवेश करते समय उनके पाँव थर-थर काँपते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सामञ्जस्य पसन्द नहीं करते थे, परन्तु यही कि उनके मतानुसार सामाजिक मेल-मिलाप में भी पानी की सतह वाला मुहावरा ठीक उतरता है। समाज में विषमता, ऊँच-नीच की भावना ही अधिक है, इसीलिए वे एकान्त में बैठ कर ही अपनी साधना का दीप जलाते रहे। उनकी साधना, घने

जंगलों की ओट में बहने वाली नदी थी, जो उसके पास पहुँचे, अपनी प्यास बुझा कर शान्त करे।

एक तो उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना ही कम हुई और यदि हुई तो वे उसके चक्कर में नहीं पड़े। किसी प्रकार के साहित्यिक आन्दोलन के नारे पर उन्होंने कभी लेखनी नहीं उठायी। आधुनिक युग में ऐसे लेखक कम हैं जो समान रूप से सब के श्रद्धा के पात्र हों। बख्शी जी ऐसे ही कम साहित्यिकों में से थे। वे सब के हृदय पर शासन करते रहे, शासक बन कर नहीं—समर्पण-शीला भक्ति-भावना के प्रतीक बन कर। यही कारण है कि उनका चरित्र जटिल नहीं है, वह तो सीधी-सादी रेखा हैं, जिसे समझना सब के लिए सरल है अर्थात् बख्शी जी साधक थे, सद्गृहस्थ थे। वे जीवन भर शिक्षक रहे। जब 'सरस्वती' के सम्पादक थे, तब भी अवकाश के समय बिना कुछ आर्थिक लाभ के पढ़ाते रहते थे। अन्त-अन्त तक राजनाँदगाँव के दिग्विजय महाविद्यालय में अध्यापन-कार्य करते रहे। अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होने 'मास्टर जी' बन कर ही व्यतीत किया। अध्ययन और अध्यापन ही उनका जीवन था। ऐसी जिन्दगी व्यतीत करने वाला व्यक्ति स्वभाव से ही सामञ्जस्य पसन्द करने वाला हो ही जाता है।

बख्शी जी परम सन्तोषी थे। वे अधरों के वाणी-विलास पर कम विश्वास करते थे। साधारण से साधारण दैनिक कार्यों में भी बोलने की अपेक्षा विचार करते रहना ही अधिक पसन्द करते थे। उदाहरण के लिए, वे भोजन के समय भी विचारों में डूबे रहते थे। शरीर को पौष्टिक पदार्थ कदाचित वे अपने विचारों से ही प्रदान करना चाहते थे। थाली के दाल-भात की तरह, उनके दिमाग की थाली में भी विचार साने जाते थे। एक विचार पा जाने पर उसे छोड़ते नहीं थे, बड़ी आसानी से उसकी तह तक पहुँच जाते थे, जैसे पानी में बतख तैरती हुई चली जाय अथवा गिलहरी के मुलायम बालों पर जैसे अँगुलियाँ अपने-आप फिसलती

चली जायँ। ऐसे ही विचारों की उर्वरा भूमि में जीवन की साधारण-से-साधारण घटना भी कला-कृति का रूप धारण कर लेती थी।

और जब वे बात करना आरम्भ करते, जो कि बहुत कम होता, तो नोन-तेल-लकड़ी की चर्चा से लेकर कालिदास-भवभूति तक, या घरेलू जीवन से लेकर किसी आलीशान रेस्तरां के कटु अनुभव तक बातों का दौर पहुँच जाता।

अपने विचारों की सम्पन्नता को वे सदा बढ़ाने के ही प्रयास में लीन रहना चाहते थे। शौकीन फोटोग्राफर की भाँति जीवन-जगत के विभिन्न चित्र सँजोते रहना ही उन्हें विशेष प्रिय था। साहित्य-संसार में कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ उचित और अनुचित लिखा जा रहा है—रेशे-रेशे का ब्योरा आपको वे देते थे। अपना स्पष्ट मत ही पक्ष या विपक्ष में देते थे, चाहे उसे कोई मानता अथवा न मानता।

बख्शी जी ने अपने जीवन में सदा एक अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी वे निर्विकार भाव से हँसते रहे। गार्हस्थ जीवन में भी सदा संतों का जीवन जीते थे। जीवन के प्रति उनका अपना अलग दृष्टिकोण था—'शैशव, बाल्यकाल, तारुण्य और प्रौढ़ावस्था का अतिक्रमण कर वृद्धावस्था में पहुँच गया हूँ। शरीर में जीर्णता का अनुभव कर रहा हूँ, परंतु मन में अभी तक एक उल्लास है, एक स्फूर्ति है, एक उमंग है। कार्य में अक्षमता आ जाने पर भी, मन की गति में अक्षमता नहीं आयी है। मैं अभी तक कल्पना के माया-लोक में विचरण करता हूँ। संसार मेरे लिए अभी तक रहस्यागार है। कर्म-क्षेत्र से विरक्त हो जाने पर भी मैं तरुणों के साहचर्य में रहकर, उनकी महत्वाकांक्षाओं में एक विलक्षण रस का अनुभव करता हूँ।···मृत्यु अनिवार्य है। मुझे मृत्यु का भय नहीं है। आज या कल वह तो आयेगी ही।'

●

यथार्थ जीवन के औपन्यासिक-प्रसंग

⊙ अपने जीवन की यथार्थ गाथा में एक गर्व का मिथ्या गौरव प्रदर्शित करने का अवसर अवश्य आ जाता है, पर हम यथार्थता की शुष्कता और कटुता को दूर नहीं कर सकते।

⊙ शरीर में जीर्णता का अनुभव कर रहा हूँ। परन्तु मन में अभी तक एक उल्लास है, एक स्फूर्ति है, एक उमंग है। कार्य में अक्षमता आ जाने पर भी, मन की गति में अक्षमता नहीं आयी है। मैं अभी तक कल्पना के मायालोक में विचरण करता रहा हूँ। संसार मेरे लिए अभी तक रहस्यागार है।

⊙ कर्मक्षेत्र से विरत हो जाने पर भी मैं तरुणों के साहचर्य में रह कर; उनकी महत्वाकाँक्षाओं में एक विलक्षण रस का अनुभव करता हूँ।

⊙ जो पुस्तकें मुझे प्रिय हैं, उन्हीं में तन्मय हो कर मैं अपने दुःख और चिन्ता को भूल जाता हूँ, उन्हीं से मुझे सांत्वना मिलती है और प्रेरणा भी।

⊙ मैं 'चन्द्रकन्ता' के माया-जगत में खूब घूम चुका हूँ। उसके पहाड़ों और जंगलों में मैं उसके पात्रों के साथ अच्छी तरह भ्रमण कर चुका हूँ। उनका चित्र मेरे हृदय में अभी तक अंकित है।

⊙ मेरे लिए साहित्य-जगत एकमात्र आनन्द का माया-लोक रहा है। १९०३ से अभी तक मैं स्वच्छन्दता-पूर्वक साहित्य-जगत में विचरण करता आया हूँ, उसको मैं अपने लिए तीर्थ यात्रा ही समझता हूँ।

□ □

जीवन-कथा की महत्वहीन साधारण घटनायें भी दूसरों के लिए स्पृहणीय हो जाती हैं। महापुरुषों के जीवन की तुच्छ घटनायें तो विशेष संदर्भों के साथ उनके जीवन-काल में ही चर्चित होने लगती हैं, मरणोपरांत उनमें अतिरंजना का प्रलेप भी लग जाता है। बख्शी जी ने स्वयं में कभी कोई गरिमा नहीं देखी। उनमें एक ग्रामीण जैसी सरलता और निस्पृहता थी। विनम्रता की मूर्ति थे वे। अपनी किसी भी रचना में उन्होंने प्रतिभा का चमत्कार एवं कला की निपुणता का दावा नहीं किया। वे सदा आनन्द के लिए ही लिखते थे। जैसे लेखन उनकी मानसिक भूख का भोजन हो। वे साठ वर्षो तक संत-साधक की भांति साहित्य-साधना करते रहे। फिर भी उनकी मान्यता थी कि साहित्य का सच्चा पारखी तो काल होता है। यदि मेरे ग्यारह निबन्ध भी काल का आघात सह सके तो इससे बड़े गौरव की बात मेरे लिए दूसरी नहीं हो सकती। ऐसे साधुमना बख्शी जी के जीवन की अत्यन्त साधारण घटनायें उनके जीवन-काल ही में उल्लेखनीय हो गयी थीं, भले ही उनके लिए उनका कोई विशेष महत्व नहीं रहा।

सन् १९०३ में, अक्षर-ज्ञान होते ही बख्शी जी देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' के मायालोक में विचरण करने लगे थे। जब उनकी आयु आठ-नौ वर्ष की थी, तब की एक घटना उनके ही शब्दों में—'यथार्थ में किसी चुड़ैल के मायाजाल से कहीं अधिक दृढ़तर पाश खत्री जी का मायाजाल था। मैं यह नहीं समझता था कि भैरोसिंह नहीं हो सकता। मैं टूटे-फूटे घरों में अवश्य घूमने जाया करता था। मैं खेतों में जाकर उस आसमानी रंग के फूल की खोज करता था, जिसके रस से जगन्नाथ ने वीरेन्द्रसिंह को चैतन्य किया था। मैं तो छोटा था पर मेरे इस काम में सहायक जो गजराज बाबू थे, वे ऊँची कक्षा में पढ़ते थे। यह सच है कि वे स्कूल से नहीं भागते थे। पर अवसर मिलते ही वे भी मेरे साथ घूमा करते थे। 'चन्द्रकांता संतति' के मायाजाल में वे भी आबद्ध हो चुके थे। एक बार हम लोगों ने बड़े परिश्रम से एक बेहोशी की दवा तैयार की। हमें विश्वास था कि तम्बाकू के साथ किसी को वह दवा पिलाने से वह बेहोश हो जायगा। हमने उसे एक व्यक्ति को दिया। वह गँजेड़ी था। उसे पीकर वह प्रसन्न हुआ। परन्तु वह बेहोश नहीं हुआ।'

मध्यप्रदेश के भूतपूर्व खाद्य-मन्त्री श्री किशोरीलाल शुक्ल बख्शी जी के छात्र रह चुके हैं। सत्तरहवीं वर्ष-गाँठ पर बख्शी जी को उनके छात्रों की रचनाओं का एक संग्रह 'अर्चना' समर्पित किया गया था। शुक्ल जी अभि-नन्दन समिति के अध्यक्ष थे। 'अर्चना' के आमुख में उन्होंने जिस घटना का उल्लेख किया है, वह मनोरंजक तो है ही, अपना एक विशेष महत्व भी रखती है—'मैं स्वयं बख्शी जी का एक छात्र रह चुका हूँ। उनकी जीवन-कथा से मेरी छात्रावस्था का भी कुछ समय विशेष रूप से सम्बन्ध है। बख्शी जी सन् १९१६ में राजनाँदगाँव के स्टेट हाई स्कूल में अध्यापक होकर आ चुके थे। उन दिनों राजनाँदगाँव के स्टेट हाई स्कूल की बड़ी ख्याति थी। एन० ए० ईलैया तंबी हेडमास्टर थे। उन्होंने स्कूल के

भीतर कई परिवर्तन किये थे। अध्यापकों को यह आज्ञा दी थी कि वे 'गाउन' पहन कर स्कूल आया करें।...क्लास में जाने के पूर्व सब लड़के अपनी-अपनी कक्षाओं के सामने खड़े होते थे और हेडमास्टर एक-एक कर सब लड़कों को देखते थे। टोपी पर राजकीय झंडे का चिह्न लगाना बड़ा आवश्यक था। यदि कोई लड़का दण्डनीय है तो उसी समय हेडमास्टर उसे दण्ड भी देते थे। सभी टीचर 'गाउन' पहनकर खड़े रहते थे। वह दृश्य सचमुच भव्य था, परन्तु जब बख्शी जी आये, तब इस सबन्ध में वे एक अपवाद-रूप हो गये। वे 'गाउन' नहीं पहनते थे और ठंड के दिनों में 'लोई' ओढ़ कर आते थे। उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई रहती थी और बाल भी। एक बार जब सब टीचरों का फोटो लेने का आयोजन किया गया, तब बख्शी जी को कहा गया कि वे भी सिर पर टोपी लगा लें। बख्शी जी टोपी नहीं लगाते थे, तब तत्कालीन शिक्षक विष्णुराव ढोक ने उनको ग्वालियर की मराठी पगड़ी दी। उन्होंने उसको लगा लिया और 'लोई' ओढ़ कर ही फोटो खिंचवाया। घटना साधारण है, पर उससे भी एक बात प्रतीत होती है कि बख्शी जी में जहाँ एक ओर स्वभाव की सरलता है, वहीं दूसरी ओर स्वभाव की दृढ़ता भी है।'

एक बार बख्शी जी पर उनके जन्म-ग्राम खैरागढ़ में जो कुछ बीता, उसे पढ़कर एक ओर जहाँ हँसी आती है, वहाँ दूसरी ओर मन गम्भीरता से सोचने लगता है कि ऐसी भी क्या सरलता जो मनुष्य को बीच बाजार में विदूषक बना दे! मध्यप्रदेश के जाने-माने कवि श्री श्रीबाल पांडेय ने एक संस्मरण में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है—बख्शी जी राजानाँदगाँव में शिक्षक थे और बहुधा खैरागढ़ आते रहते थे। बात उन दिनों की है, जब खैरागढ़ रियासत कोर्ट आफ् वार्ड्स में थी। गर्मी के दिन थे। बख्शी जी धोती पहने, नंगे बदन, आधी धोती कंधे पर डाले सवेरे योंही सड़क पर टहल रहे थे। इसी बीच कोर्ट आफ् वार्ड्स का सुपरिन्टेन्डेण्ट वहाँ से गुजर रहा था। उसकी सवारी आ रही थी।

बीच रास्ते में एक गाय का बछड़ा लेटा हुआ था। सुपरिटेन्डेण्ट की सवारी रास्ते में बछड़े के कारण रुक जाये, असंभव। उसने फौरन बख्शी जी को बुला कर हुक्म दिया—'अरे ओ। इधर आ। इस बछड़े को काँजीहाउस में ले जाकर बन्द कर आ।' बख्शी जी ने उस बछड़े को उठाया और कान पकड़ कर चुपचाप ले चले। अब वे बाजार की सड़क से काँजीहाउस की ओर जा रहे थे तो लोगों ने उन्हें एक अजीब स्थिति में देखा। अचरज हुआ। अरे यह क्या? भीड़ इकट्ठी हो गयी। पूछे जाने पर बख्शी जी ने साहिब का आदेश और पूरी घटना बतायी। तब कुछ भले मनुष्यों ने अपने साहस का परिचय दिया, सुपरिटेन्डेण्ट महोदय से कहा, 'अरे साहिब, आपने यह क्या किया? आप बख्शी जी को नहीं जानते? वे बहुत बड़े साहित्यकार हैं। पूरा राज-परिवार उनकी इज्जत करता है। आपने उन्हें...।' और तब उन महोदय ने बख्शी जी से माफी माँगी। ऐसे सहज व्यक्ति थे बख्शी जी।

बख्शी जी सभा-समारोहों से बहुत घबरते थे। अध्यक्षता का नाम सुनते ही वे बच्चों के समान भयभीत हो जाते थे। एक बार 'न्यू थियेटर' की एक फिल्म देखने के मोह में पड़ कर उन्हें किस प्रकार एक कवि-सम्मेलन का अध्यक्ष बनना बड़ा, इसकी चर्चा उन्होंने अपनी 'जिन्हें नहीं भूलूँगा' पुस्तक में इस प्रकार की है—'उस समय न्यू थियेटर्स' के चल-चित्रों के प्रति मुझे बड़ा आकर्षण था। ज्योंही राजनाँदगाँव या रायपुर में उसका कोई चलचित्र आता, मैं अवश्य देखने जाता था। यह बात मेरे सभी मित्र जानते थे। एक दिन अचानक पं० सुन्दरलाल त्रिपाठी खैरागढ़ पहुँचे। उन्होंने बताया कि रायपुर में न्यू थियेटर्स का कोई चित्र लगा है। शायद वह 'सँपेरा' था। उन्होंने यह बतलाया कि वे मुझे रायपुर ले जाने के लिए आये हैं। मुझे उनकी बात सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, 'आप मुझे खबर दे देते, मैं रायपुर आ जाता। उसके लिए आपको यहाँ आने की जरूरत ही क्या थी?' त्रिपाठी जी ने कहा, 'आ

गया तो क्या हुआ? अब आप चलिये।' मैंने कहा, 'मैं चलता तो हूँ, पर मुझे संदेह होता है कि आप मुझे किसी दूसरे काम से ले जाना चाहते हैं। मुझे सबसे बड़ा डर यह है कि कहीं आप किसी सभा का अध्यक्ष बनाने के लिए तो नहीं ले जा रहे हैं।' उन्होंने कहा, 'नहीं ऐसी बात नहीं है।' मैंने उनसे फिर कहा, 'देखिये, मुझे आप भ्रम में मत रखिये। मैं सचमुच किसी सभा का सभापति नहीं बनना चाहता।' उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे मुझे सिनेमा ले जावेंगे। मैं उनके साथ रायपुर चला गया। उन्होंने मुझे थियेटर में ले जाकर बैठा दिया। थोड़ी देर के बाद वे उठ कर चले गये। मैं सिनेमा देखने लगा। कुछ देर बाद छत्तीसगढ़ कालेज के दो प्रोफेसर आये। उन्होंने आकर मुझे बतलाया कि उनके कालेज में कवि-सम्मेलन हो रहा है। उसका मैं अध्यक्ष बनाया गया हूँ, सब लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुझे बड़ा क्रोध आया। मैं नहीं समझ सका कि त्रिपाठी जी ने ऐसा क्यों किया? मैं उन प्रोफेसरों के साथ चला आया। फिर किसी तरह कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ। मैं बड़ा क्षुब्ध था। सम्मेलन समाप्त होने पर मैंने त्रिपाठी जो कहा, 'आपने क्यों मुझे इस तरह बेवकूफ बनाया?' इस पर त्रिपाठी जी ने तुरन्त मेरे पैर पकड़ लिये। मेरा लालन-पालन ऐसे परिवार में हुआ है, जहाँ ब्राह्मणों पर बड़ी भक्ति की जाती है। हम लोग एक ब्राह्मण-बालक को भी प्रणाम करते हैं। मुझ पर बाल्यकाल का वह संस्कार पड़ा हुआ है। उनके पैर पकड़ लेने पर मैं और क्रुद्ध हुआ और सिर पीटने लगा। इसी के बाद खरे जी, भवानीप्रसाद तिवारी को लेकर आये और तब भवानी जी ने भी मेरा चरण-स्पर्श कर लिया। तब मैं पुनः अपना सिर पीटने लगा।'

बख्शी जी उपन्यास पढ़ते समय कथा के मायालोक में ऐसे खो जाते थे कि कुछ समय के लिए वास्तविक संसार से उनका जैसे नाता ही टूट जाता था। अनेक पात्रों से तो वे मन ही मन बातें करने लगते थे। बख्शी जी के भतीजे श्री गिरीश बख्शी ने (जो स्वयं एक अच्छे कथाकार

और कवि हैं) उनके उपन्यास-प्रेम पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है— 'शाम चार-पाँच बजे मास्टर जी 'बख्शी जी' अपने शिष्य श्री अनूपचन्द जैन के घर चले जाते थे। अनूपचन्द जी में साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण वे मास्टर जी के लेखादि लिखते रहते थे। एक दिन उनके घर उन्हें गस्ताव फ्लावर्ट की अमर कृति 'मादाम बावेरी हाथ लग गयी। फिर तो वे उसमें ऐसे खो गये कि कब शाम हो गयी और वह शाम कब रात में बदल गयी, उन्हें जरा भी पता नहीं। मास्टर जी के स्वभाव से अनूपचन्द जी परिचित थे। इसी से उन्होंने उनसे कुछ न कह कर चुपचाप लालटेन ला कर रख दी थी। मास्टर जी जब 'मादाम बावेरी' से अच्छी तरह परिचित होकर यथार्थ जगत में लौटे तो लालटेन को देख कर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ था। वे कह पड़े थे, अरे, क्या रात हो गयी ?'

बख्शी जी के गले में बहुत दिनों से काफी तकलीफ थी। बोलने-बताने के साथ-साथ खाने-पीने में भी कष्ट होता था। हम लोगों के बहुत आग्रह करने पर वे अपने एक शिष्य श्री विजयलाल ओसवाल (भूतपूर्व एम० एल० ए०) के साथ जबलपुर आये। सिविल सर्जन डा० चारी की ख्याति सारे मध्यप्रदेश में फैल चुकी थी। उन्होंने जाँच करने के के पश्चात कहा, "इन्हें कैंसर है, जल्दी से जल्दी बम्बई ले जाना चाहिए।" बम्बई का नाम सुनते ही बख्शी जी एक बच्चे की तरह रो पड़े और अत्यन्त दीन भाव से बोले—"मैं बम्बई नहीं जाऊँगा। मुझे खैरागढ़ ले चलिये। मैं वहीं मरना चाहता हूँ।" उनके अभिन्न मित्र श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव के हर तरह से समझाने पर वे किसी तरह नागपुर के मेडिकल कालेज में जाँच कराने के लिए राजी हुए। इसके पहले उन्होंने खैरागढ़ लौटने की इच्छा प्रकट की और वहाँ से नागपुर जाना तय हुआ। उन्होंने मुझसे साथ चलने को कहा। खैरागढ़ पहुँचने पर वे इस तरह सब लोगों से मिलने-भेंटने लगे, मानों अब पुनः नागपुर से खैरागढ़ नहीं लौट सकेंगे। जब खैरागढ़ की रानी पद्मावती देवी से मिल

कर लौटे तो उनके चेहरे पर पहले जैसी उदासी और घबराहट नहीं थी। प्रसन्न मुद्रा में बोले—"रानी साहिबा, ने दो सौ रुपये दिये हैं। साथ ही जिस मकान में मैं वर्षों से रह रहा हूँ, वह उन्होंने मुझे दे दिया है। यदि मैं मृत्यु के मुँह से निकल आया तो जीवन के अन्तिम दिन खैरागढ़ में ही व्यतीत करूँगा। खैरागढ़ किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ूँगा।" मैंने तब कहा था—"आपने रानी साहिबा की बहुत सेवा की है। राजकुमारियों के साथ-साथ एक तरह से आप रानी साहिबा के भी गुरु रह चुके हैं। चुनाव के समय उनके साथ स्थान-स्थान पर जाकर आपने ही उन्हें भाषण देना सिखाया, इसे वे कैसे भूल सकती हैं ?"

—"यह सही है कि मेरी उपस्थिति में उन्हें चुनाव-भाषण देते समय समय कोई विशेष झिझक नहीं होती थी। किसी भी नये स्थान में भाषण देने के पहले वे मुझसे पूछतीं थीं कि क्या बोलना है। मैं उन्हें सब बातें समझा देता था। मैंने उन्हें कुछ भाषण लिखकर भी दे दिये थे। लेकिन उनका जनता पर अब भी इतना प्रभाव है कि यदि वे भाषण न भी देतीं, केवल अपने चुनाव-क्षेत्र में एक बार हो आतीं, तब भी चुनाव जीत जातीं। वे हम सब की राजलक्ष्मी हैं, देवी हैं।"

—"यह तो ठीक है, फिर भी आपको मकान के सम्बन्ध में पक्की लिखा-पढ़ी करा लेनी चाहिए। नागपुर से लौट कर उनसे पट्टा अवश्य लिखवा लीजिये।"—बरबस मेरे मुँह से निकल गया था।

—"पट्टे-वट्टे की क्या जरूरत है ? मेरे लिए तो उनका वचन पट्टे से कहीं अधिक महत्व रखता है। इस सम्बन्ध में मैं उनसे एक भी शब्द नहीं कहूँगा। मैंने तो उनसे मकान माँगा नहीं था, उन्होंने स्वयँ दिया है।"

इसके बाद में मैं क्या कहता ? बख्शी जी नागपुर जा कर सकुशल खैरागढ़ लौट आये। उन्हें कैंसर नहीं था। बख्शी जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री महेन्द्र कुमार बख्शी ने, इस विश्वास से कि अब तो मकान अपना है,

इधर-उधर से जोड़-तोड़ कर उसकी मरम्मत भी करवा ली। एक दिन अचानक बख्शी जी को एक सेठ का नोटिस मिला। उसने छः हजार रुपये में वह मकान रानी साहिबा से खरीद लिया था और उन्हें मकान खाली करने का नोटिस भेजा था। नोटिस पढ़ते ही बख्शी जी का पूरा परिवार आश्चर्यचकित रह गया। इसके बाद इस घटना ने जो मोड़ लिया उसका प्रामाणिक विवरण, रायपुर के दैनिक 'देशबन्धु' के सम्पादक श्री मायाराम सुरजन के शब्दों में इस प्रकार है—"समस्त साहित्य-जगत में एक हलचल मच गयी। अखबारों के माध्यम से एक आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ। रानी साहिबा मध्यप्रदेश शासन में मंत्री हो गयी थीं। उन्होंने इस आन्दोलन की जरा भी परवाह नहीं की। तब मैं जबलपुर से भोपाल आ गया था। स्वाभाविक था 'नव भारत' जैसा सशक्त पत्र इस आन्दोलन को उठा ले। रानी साहिबा ने मुझे बुलाया। प्रसंगानुसार आव-भगत भी की।

—'बख्शी जी जबरदस्ती मकान अपना समझ रहे हैं। हमने कोई पट्टा नहीं लिखा।'

मैंने प्रतिकार किया—'पट्टे की क्या जरूरत है? आपका वचन पट्टे से ज्यादा वजनदार है।'

—'नहीं, मैंने कोई वचन नहीं दिया। खैरागढ़ के लोग जबरन आन्दोलन कर रहे हैं।'

मैंने फिर कहा—'अगर ऐसा नहीं किया तो अब सही। आपके लिए पाँच-छः हजार का क्या मूल्य है?'

—'ऐसा नहीं हो सकता। आप भी आन्दोलन बन्द कीजिए। हमारा प्रतिवाद भी छापिए।'—रानी साहिबा बोलीं।

मैं विनम्रतापूर्वक मना करके चला आया। आन्दोलन चलता रहा कि अचानक एक दिन वक्तव्य आ गया : 'रानी साहिबा मेरी मातृ-तुल्य हैं। वे जो कर रही हैं, मेरे भले के लिए ही है। मैं सबसे प्रार्थना करता हूँ

कि वे रानी साहिबा के विरुद्ध कोई कदम न उठावें। इससे मुझे आन्तरिक पीड़ा होगी।—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।'

आन्दोलन बंद हो गया और वह मकान भी बख्शी जी को नहीं मिला।

□□

हमारे मित्र, गीतांजलि के सुप्रसिद्ध अनुगायक-कवि पं० भवानीप्रसाद तिवारी (जो अब राज्य-सभा के सदस्य भी हैं) बख्शी के सम्बन्ध में, एक बड़ी मजेदार घटना का हाल सुनाने में बड़ा रस लेते हैं। सागर विश्व-विद्यालय के दीक्षान्त-समारोह में बख्शी जी और तिवारी जी को डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया जाना था। बख्शी जी को किसी प्रकार घेर कर सागर लाया गया था। जब दोनों साथ-साथ 'गाउन' धारण करने गये तो बख्शी जी एक अजीब उलझन में उलझे दिखाई दिये। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि कोट बनाम शेरवानी का एक पल्ला दूसरे से अधिक लम्बा क्यों है। मैंने आगे बढ़कर, हँसते हुए उनके उल्टे-सीधे बटनों को ठीक कर दिया तो दोनों पल्ले बराबर हो गये। वह भी हँसे और बोले—'इतनी-सी बात मेरी समझ में नहीं आ रही थी।'

हम लोग समारोह-भवन में पास-पास बैठे थे। वे 'गाउन' पहने चुपचाप मूर्तिवत बैठे 'बोर' हो रहे थे। समारोह के बीच में ही उन्होंने पूछा, 'आसपास कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ मैं बीड़ी पी आऊँ?'

उत्सव की समाप्ति पर उन्होंने तुरन्त 'गाउन' उतारा और भीड़ से दूर जाकर सबसे पहले बीड़ी पी, तब उन्हें अच्छा लगा।

बख्शी जी को सदैव आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। लेकिन अभावग्रस्तता में भी कभी झुके नहीं, अर्थ-प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी किसी अनुचित कार्य को प्रश्रय नहीं दिया। एक प्रकाशक ने बड़े दु:खी मन से अपनी आपबीती सुनाते हुए बताया था—'मैं पता लगाता हुआ बख्शी जी के घर पहुँचा। सर्व-प्रथम उन्हें देखकर मुझे विश्वास ही नहीं हुआ कि यही बख्शी जी हैं। मेरे मन पर तो उनके व्यक्तित्व का दूसरा ही चित्र अंकित था। वे दालान से लगे एक छोटे से कमरे में मामूली दरी पर बैठे बीड़ी पी रहे थे। मैंने पूछा—'बख्शी जी कहाँ हैं ? मैं उनसेमिलना चाहता हूँ। बड़ी दूर से आया हूँ—अलीगढ़ से।'

यह सुनते ही वे इस तरह उठ खड़े हुए, जैसे किसी मास्टर को आदर देने के लिए कोई सरल-सीधा छात्र उठ कर खड़ा हो जाता है। बोले,—'आइये, बैठिये। कहिये, क्या काम है ?'

—'मैं बख्शी जी से मिलने आया हूँ।'

—'मैंने कहा न, बैठिये। बोलिये कैसे आये ? मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

काटो तो खून नहीं। मेरे पैरों के नीचे से जमीन खिसक गयी। कुछ क्षणों के लिए तो जैसे मेरी दँतौरी बँध गयी थी। जेब से सौ सौ के दस नोट निकाल कर मैंने उनके सामने रख दिये। इसके बाद कहा, 'आप मुझे अपनी कोई पुस्तक छापने को दे दीजिये। मैं कोई नयी पुस्तक नहीं चाहता, पुरानी पुस्तकों में से अपनी पसन्द के बारह निबन्धों का संग्रह कर दीजिए। एक हजार रुपये अग्रिम रायल्टी के रूप में दे रहा हूँ।'

वे बोले, 'ऐसा संग्रह आठ-दस दिनों में तैयार हो सकता है। अभी तो मेरे पास इस तरह का कोई संग्रह नहीं है।'

—'कोई बात नहीं, तैयार हो जाने पर भेज दीजिये, इस कार्ड पर हमारी फर्म का पता छपा है।'

इसके बाद में असली मुद्दे पर आया। अभी तक तो भूमिका ही बाँधी थी। अपना मंतव्य प्रकट करने में मुझे बहुत हिचकिचाहट हुई। फिर भी साहस बटोर कर मैंने कहा—'एक प्रार्थना और है। आपकी कृपा से मेरा उद्धार हो सकता है।'

—'कहिये, मैं किस तरह आप की सहायता कर सकता हूँ ?'

—'आपके पास छठवी, सातवीं और आठवीं दर्जे की हिन्दी-रीडर रिव्यू के लिए आयी हैं। आप उन पर अधिक से अधिक अंक देने की कृपा करें। आप मुझे सभी रीडरें दिखा दीजिये, मैं उनमें से अपनी रीडर निकाल कर आपको दिखा दूँगा।'

यह सुनते ही भड़क उठे। रोष भरे स्वर में, आगबबूला होते हुए बोले, 'आप ये रुपये उठाइये और अभी यहाँ से निकल जाइये। इस तरह के अनुचित कार्य के लिए मेरे पास आने की हिम्मत कैसे हुई ? मैं गरीब लेखक जरूर हूँ पर बेईमान नहीं हूँ। उठाइये अपने ये नोट।'

बुरी तरह पानी उतर चुका था मेरा। उस दिन बेआबरू होकर उनके कूचे से निकला। इसके बाद फिर कभी मुझे बख्शी जी के पास जाने का साहस नहीं हुआ।'

□□

बख्शी जी अत्यन्त भावुक थे। अपने स्नेहियों के दु:ख दूर करने के लिए वे कुछ भी उठा नहीं रखते थे। श्रीमती शान्ति यदु एक मार्मिक प्रसंग का उल्लेख करते हुए 'बख्शी जी और मानवीय मूल्य' शीर्षक लेख में लिखती हैं—'एक बार बख्शी जी के एक मित्र ने उनसे एक रुपया माँगा बख्शी जी ने पूछा, 'आखिर तुम यह रुपया माँग क्यों रहे हो ?' उनके

मित्र ने कहा, 'तुम तो मेरी आर्थिक स्थिति जानते हो। मेरी पुत्री सयानी हो गयी है। उसके हाथ पीले करना है अतः अपने मित्रों से एक-एक रु० माँग रहा हूँ ताकि कन्या से उऋण हो जाऊँ।' बख्शी जी ने तुरन्त अपनी धर्मपत्नी से माँगकर सौ रुपये अपने मित्र को दे दिये। मित्र के जाने के पश्चात उनकी पत्नी ने कहा, 'वे तो एक ही रुपया माँग रहे थे, तुमने सौ रु० क्यों दे दिए ?' बख्शी जी ने मुस्करा कर कहा, अपनी बेटी और पराई बेटी में क्या कोई अंतर होता है ? फिर किसी कन्या के विवाह के लिए कुछ भी करना किसी महान धर्म से कुछ कम नहीं होता।' उनकी यह बात सुन कर पत्नी निरुत्तर हो गयीं। इस तरह हम देखते हैं कि उन्होंने मानवीय मूल्यों को अपने जीवन में पूर्णतः आत्मसात किया था।'

●

मेरे साहित्य-गुरु

●

* यदि अज्ञात रूप से श्रीमान् लिख दिया गया है तो वह शुभ ही होगा।
* मैं आप को भूल नहीं सकता। आप का स्नेहपूर्ण और विनम्र व्यवहार ऐसा है कि मैं एक बार अपने सगे भाइयों को भूल जाऊँ पर आपको नहीं भूलूँगा।
* मैं उपन्यास तो कभी नहीं लिख सकूँगा। उपन्यास से एक लाभ अवश्य होता है। उसमें हम अपनी कल्पना द्वारा किसी को भी नायक बना कर उसमें जीवन की यथार्थता व्यक्त कर सकते हैं। मैने कई बार लिखने की बात सोची, पर लिख नहीं सका। ऐसा जान पड़ता है कि मुझमें वह क्षमता ही नहीं है। पर आपकी कहानियों में मैं ने कला की यह विशेष कुशलता अवश्य पायी है। आप प्रयत्न कीजिए। आप अवश्य ही श्रीकान्त की तरह एक उपन्यास लिख सकते हैं। तब आप की जीवन-कथा मंश्रीकान्त के इन्द्रनाथ की तरह मेरी भी जीवन-कथा सम्मिलित हो सकती है। कभी यदि मुझे अवसर मिला और आप की भी इच्छा हुई तो मैं उस उपन्यास की रूपरेखा आप के लिए बना सकता हूँ। मैं स्वयं उपन्यास भले ही न लिख सकूँ परन्तु दूसरों से अवश्य लिखा सकता हूँ।
* मैं अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में अवश्य संशय रखता हूँ, पर पाठक के रूप में दूसरों की रचानओं के सम्बन्ध में मुझे संशय नहीं रहता। मैं जिसे अच्छा समझता हूँ, उसी को अच्छा कहता हूँ, जो मुझे खराब जान पड़ता है, उसे खराब कहने में नहीं हिचकता भले ही वह किसी प्रसिद्ध लेखक की रचना हो।

□□

सन् १९३०। गुलाबी ठंड की एक सुबह। जबलपुर के अंधेरदेव स्थित इंडियन प्रेस ब्रांच-आफिस के सामने लकड़ी की तीन-चार साधारण-सी कुर्सियाँ पड़ी हैं। हम लोग सामने की होटल से चाय पी कर लौटे हैं। एक कुर्सी पर मास्टर जी (बख्शी जी) बैठ जाते हैं और 'रणवीर छाप' बीड़ी सुलगा लेते हैं। वही घुटनों तक धोती और कुरता। बदन के ऊपरी भाग को स्लेटी रंग की लोई से ढाँक लिया है।

श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव उनके आतिथेय थे। श्रीवास्तव जी उन्हें अपना अग्रज मानते थे और मास्टर जी उनको अपना अभिन्न मित्र। वे इंडियन प्रेस के मैनेजर थे और 'प्रेमा' नामक मासिक पत्रिका के संचालक-सम्पादक भी वही थे। उनका सवेरा कभी नौ बजे के पहले नहीं होता। वे अभी सो कर नहीं उठे थे। मुझे दस बजे स्कूल जाना पड़ता था इसलिए मैं आठ बजे ही इंडियन प्रेस पहुँच गया था। मास्टर जी के सहज स्नेह और आत्मीयता ने मुझ पर ऐसा जादू कर दिया था कि मैं अधिक से अधिक समय उनके सान्निध्य में व्यतीत करना चाहता था। तब मेरी आयु सोलह-सत्रह वर्ष की थी, फिर भी वे मुझे अपना साथी ही

मानते थे।

एकाएक मास्टर जी मुझसे पूछते हैं—'क्या तुम कविता नहीं लिखते ? अधिकांश साहित्यिकों ने तो कवि के रूप में ही साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया है। मैं तो अब भी नित्य कविता लिखता हूँ। चाहे दो पंक्तियाँ ही क्यों न लिखूँ, पर लिखता जरूर हूँ। आज सबेरे ही मैंने कविता लिखी है।'

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। मेरे मौन साध लेने पर उन्होंने भाषा को प्रोत्साहन का बाना पहना कर कहा—'कविता लिखते हो तो साफ-साफ कहो, शर्माने की क्या बात है ? मैं तो जिसमें तनिक भी साहित्यिक रुचि देखता हूँ, उससे कविता लिखने को कहता हूँ। प्रारम्भ में छंद ठीक नहीं रहता, भाषा भी ऊबड़-खाबड़ रहती है, लेकिन कुछ दिनों के अभ्यास से थोड़ी-सी भी प्रतिभा होने पर लोग अच्छी कविता लिखने लगते हैं।'।

जैसे कोई चोर चोरी पकड़ जाने पर अपना अपराध स्वीकार करता है, उसी संकोच भाव से मैं कहता हूँ—'कुछ कवितायें लिखी तो हैं लेकिन उन्हें किसी को दिखाने का साहस आज तक नहीं हुआ। कहीं निरी तुकबंदियाँ ही न हों।'

—'जाओ, अभी जा कर ले आओ अपनी कविताओं की कापी। मैं उन्हें शुद्ध कर दूँगा।'

मैं घर से कविता की कापी ले जाकर उनके हाथ में दे देता हूँ। वे चुपचाप कवितायें पढ़ने में मग्न हो जाते हैं। मेरी स्थिति उस छात्र जैसी हो जाती है, जिसकी परीक्षा-कापी शिक्षक के हाथ में हो और कुछ क्षणों के बाद ही परिणाम घोषित होने वाला हो। इसके पूर्व मैं अपने किसी परीक्षा-फल के लिए इतना सशंकित नहीं हुआ था। मास्टर जी हँसते हुए प्रसन्नता व्यक्त करते हैं—'तुम्हारी सभी कवितायें अच्छी हैं। भाव स्पष्ट है और भाषा भी मँजी हुई है। कहीं-कहीं छंदोभंग अवश्य है। वह भी निरन्तर अभ्यास करते रहने से ठीक हो जायेगा। मैं तुम्हारी पहली

कविता ठीक कर देता हूँ। अन्य कविताओं में जहाँ-तहाँ जो अशुद्धियाँ हैं, उनमें पेंसिल से निशान लगा दूँगा। उन्हें तुम स्वयं ठीक करके मुझे दिखाना।'

मास्टर जी मेरी कापी मुझे दे देते हैं। उन्होंने मेरी 'तुम' शीर्षक कविता पसन्द की थी। मैं उसे ध्यानमग्न हो देख रहा था, तभी श्रीवास्तव जी हम लोगों के बीच आ बैठते हैं। मास्टर जी जैसे मेरे कवि होने की घोषणा के लिए व्यग्र थे। अत्यन्त ममत्व और स्नेह-भीगे स्वर में बोले—'सचमुच आपकी कविता बहुत अच्छी है। रामानुज जी को दिखाइये, वे भी इसे पसन्द करेंगे।' मैंने उसी संकोच के साथ अपनी कविता की कापी उन्हें दे दी। कविता पढ़ कर उन्होंने भी प्रसन्नता प्रकट की और बोले—'आज शाम को जैन बोर्डिङ्ग हाउस में एक कवि-सम्मेलन है। उसमें आप इसे अवश्य पढ़िये।'

—'मैं तो कविता पढ़ता नहीं, गाता हूँ। क्या कवि-सम्मेलन में भी गा कर कविता पढ़ी जा सकती है ?'

—'तब तो और अच्छा है, हमारी बिरादरी के हो। अभी यहीं रिहर्सल हो जाये।'—श्रीवास्तव जी ने हँस कर कहा।

मैं कुछ देर अजीब उधेड़-बुन में पड़ा रहा। बाद में यह भाव मन में आरोपित कर कि मैं एकान्त में अपने-आप को अपनी कविता सुना रहा हूँ, मैंने बड़ी तन्मयतापूर्वक काव्य-पाठ किया।

—'पास'—दोनों ने समवेत स्वर में कहा। इसी बीच पं० केशवप्रसाद पाठक आ गये। मास्टर जी ने उनसे भी मुसकाते हुए कहा—'पाठक जी, खरे जी कवि बन गये हैं, आपको पता है ? लीजिए, आप भी सुनिए उनकी कविता।' मैंने पुनः उसी तन्मयता से कविता सुनायी। इस बार कविता सुनाने में मुझे पहले जैसी झिझक नहीं हुई। पाठक जी कविता की नब्ज पकड़ने में माहिर थे। उन्होंने मेरी कविता की निम्न पंक्तियाँ लगातार तीन-चार बार सुनीं और अंत में स्वयं गुनगुनाने लगे—

गरल और पीयूष तुम्हीं हो,
तुम ही टूटे प्याले हो।
तुम ही हो मादकता अपनी,
तुम ही पीने वाले हो।

मैंने कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ी। झिझक तो पहले ही टूट चुकी थी। कल्पनातीत सफलता मिली। सभी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष पं० कामताप्रसाद जी गुरु ने भी मेरे नवोदित कवि को पीठ ठोक कर आशीर्वाद प्रदान किया। बाद में मेरी यही कविता नवम्बर १९३० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई।

मास्टर जी ने कभी साहित्य-गुरु बनने का श्रेय नहीं लिया। उन्होंने तो अनेक बार मेरे सम्बन्ध में अनेक प्रसंगों में यही लिखा है—'मैं खरे जी से तभी परिचित हो गया था जब वे छात्र थे। उस समय साहित्य-सेवा की जो प्रबल इच्छा उनके हृदय में उत्पन्न हो गयी थी, उसी ने उनको साहित्य के क्षेत्र में सच्ची प्रेरणा दी।' लेकिन मैंने सदा बड़े गर्व से यह स्वीकारा है कि मास्टर जी ही मेरे एकमात्र साहित्य-गुरु हैं। यदि उन्होंने मेरे कवि को न खोज निकाला होता तो अनेक तरुणों की भाँति मेरी कवितायें भी कापी में ही लिखी रह जातीं और कालान्तर में हताश होकर मैं भी कविता से मुख मोड़ लेता। यह कोई आवश्यक नहीं कि पथ-निर्देशक हमें मंजिल तक पहुँचा दे, फिर भी उसकी भूमिका कम महत्वशाली नहीं होती। मास्टर जी जीवन भर साहित्य के क्षेत्र में मेरे मार्गदर्शक बने रहे। मैं छोटी-बड़ी सभी समस्याएँ मुक्त हृदय से उनके सामने रख देता था, जिसका वे अपने ढंग से समाधान किया करते थे। साथ ही उनका यह आग्रह भी रहा करता था कि यह कोई ज़रूरी नहीं है कि मैं उनकी हर बात आँख बन्द कर ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर लूँ। वे मुझे आत्मनिर्णय की पूरी छूट देते थे।

मास्टर जी मात्र मेरे ही साहित्य-गुरु नहीं थे, मुझ जैसे अनेक छात्रों

और तरुणों को उन्होंने साहित्य-सृजन के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—'१९१६ से आज तक अध्ययन और अध्यापन का काम करता आ रहा हूँ। खुद पढ़ा, दूसरों को पढ़ाया, खुद लिखा और दूसरों से लिखाया। दूसरा काम मैंने किया ही नहीं।'—[मेरी अपनी कथा : पृष्ठ २]

मास्टर जी को दूसरों से निबन्ध, कहानी अथवा कविता लिखाने में अपूर्व आनन्द और आत्म-तृप्ति प्राप्त होती थी। उनकी रचनाओं को वे बहुत प्यार करते थे। उन्होंने अनेक नये लेखकों की रचनायें अपने अनेक संग्रहों में दी थीं। वे बड़े गर्व के साथ कहते थे—मैं लेखकों के नाम को महत्व नहीं देता। मैं सदा रचना को ही महत्व देता रहा हूँ। विषय के अनुकूल जो रचना मुझे ठीक मालूम पड़ती है, उसे किसी भी संग्रह में देने में मुझे कभी हिचकिचाहट नहीं हुई।

छात्रों की रचनाओं को वे कितना प्यार करते थे, इसका किंचित आभास देने के लिए एक छोटा-सा उदाहरण देना पर्याप्त है। सत्तरवीं वर्ष-ग्रन्थि के अवसर पर जब राजनांदगाँव की बख्शी-अभिनन्दन-समिति ने उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया, तब उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया और कहा—'मेरे लिए सबसे बड़े गौरव की यह बात होगी कि मेरे जिन छात्रों ने साहित्य के क्षेत्र में कार्य किया है, उनकी रचनाओं का संकलन प्रकाशित कर मुझे समर्पित किया जाय।' अन्त में यही हुआ भी। 'अर्चना' नामक कथा-संग्रह प्रकाशित कर उन्हें भेंट किया गया, इस संग्रह में उनके बीस छात्रों की रचनायें संकलित हैं। सर्वश्री हनुमंतलाल बख्शी, शरद कोठारी, मेघनाथ कनौजे, चन्द्रभूषण झा और गिरीश बख्शी जैसे मध्यप्रदेश के साहित्य-जगत के जाने-माने लेखकों की रचनायें भी उसमें हैं। स्वर्गीय हनुमंतलाल बख्शी मास्टर जी के लघु भ्राता थे जिनकी अनेक रचनायें 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थीं।

मास्टर जी से साहित्य-देवता के तरुण उपासक तो प्रोत्साहन पाते ही

थे, अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार भी अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में उनके निष्पक्ष विचार और सम्मति जानने के लिए व्यग्र रहते थे। मास्टर जी संकोची स्वभाव के थे किन्तु किसी भी साहित्यिक कृति पर अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते समय उनका संकोच कोसों दूर भाग जाता था। इस संदर्भ में एक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। सन् १९३० के असहयोग-आन्दोलन में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के पति ठाकुर लक्ष्मण-सिंह चौहान जेल गये थे। सुभद्रा जी का परिवार घोर आर्थिक संकट में था। उस समय कविता पर कोई भी पत्रिका पारिश्रमिक नहीं देती थी, इसलिए मैंने उनसे कहानियाँ लिखने का आग्रह किया। उन्होंने कहानियाँ लिखीं और उन पर पत्र-पुष्प के रूप में कुछ अर्थ-प्राप्ति भी हुई। मैं मास्टर जी को लेकर एक दिन सुभद्रा जी के घर पहुँचा। अपने सहज स्नेहालु तथा सरल स्वभाव के कारण कुछ ही क्षणों में उन्होंने मास्टर जी से आत्मीयता स्थापित कर ली और कथा-साहित्य के सम्बन्ध में वार्ता छिड़ गयी। अपनी कुछ कहानियाँ मास्टर जी को दिखा कर उन्होंने उनमें संशोधन एवं परिवर्धन करने का आग्रह किया। उस समय मास्टर जी ने साफ-साफ कहा था—'कहानियों के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा है कि यदि उनमें सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति हुई है तो उनमें संशोधन की आवश्यकता नहीं है। कहानियों में जीवन की सच्ची अनुभूति ही काम करती है। कथा-साहित्य में जो वैचित्र्य है, उसका कारण हम लोगों की यही अनुभूति है। इसी प्रकार शैली में भी हम लोगों का व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसलिए आप अपनी कहानियों में किसी से भी किसी प्रकार का संशोधन न करावें।' सुभद्रा जी के लिए मास्टर जी की यह बात अमिट लकीर बन गयी। उन्होंने अपने ढंग से ही कहानियाँ लिखीं और काव्य की भाँति कथा-क्षेत्र में भी कीर्ति अर्जित की।

सुभद्रा जी से सम्बन्धित एक अन्य प्रसंग मास्टर जी के ही शब्दों में —'मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार अपनी एक कहानी की चर्चा

कर उन्होंने (सुभद्रा जी ने) मुझसे पूछा कि क्या किसी भी अवस्था में यह सम्भव नहीं है कि कोई स्त्री अपने पति की हत्या करे। उन्होंने मुझे जो कहानी बतलायी, उसका तात्पर्य था कि कोई देशद्रोही पति देश के सेवकों को बड़ा कष्ट दिया करता था। प्रमुख अधिकारी होने के कारण उसके हाथ में इतनी शक्ति थी कि वह देश-सेवकों के दल को विशेष हानि पहुँचा सकता था। देश-सेवकों के दल में उसकी स्त्री भी शामिल थी। अन्त में देश-सेवक-दल ने यह निश्चय किया कि उस देशद्रोही की हत्या की जाय और यह काम सौंपा गया उस देशद्रोही की स्त्री को ही। उनकी इस कथा को सुन कर मैंने कहा कि मैंने ऐसी कहानियाँ अवश्य पढ़ी हैं जिनमें देश-प्रेम से किसी प्रेमिका ने अपने प्रेमी की हत्या की है परन्तु स्वाभाविक अवस्था में किसी भी स्त्री के द्वारा किसी भी पति की हत्या का वर्णन मैंने नहीं पढ़ा है। मैं कह नहीं सकता कि उन्होंने उस कहानी को किस प्रकार पूर्ण किया। मैंने तो उनसे यही कहा कि अच्छा तो यह होगा कि नारी के सुकोमल भावों की रक्षा कर पति को ही ऐसी परिस्थिति में रख दिया जाय, जिससे वह देशद्रोह को छोड़ कर स्वयं देश-प्रेमी बन जाय।' सुभद्रा जी ने मास्टर जी के सुझावानुसार कहानी को नया मोड़ दे दिया था।

मास्टर जी बाद में मेरे साथ ही ठहरने लगे थे। हम साहित्यिक चर्चा करते थे। हमारी गोष्ठी में कुछ तरुण भी कभी-कभी सम्मिलित हो जाते थे। स्वर्गीय इन्द्रबहादुर खरे और 'नरेन्द्र' उपनाम से कहानी लिखने वाले डी० व्ही० राव ने मास्टर जी से विशेष प्रेरणा और निर्देश प्राप्त किया। श्री नरेन्द्र जब इंटरमीजिएट के छात्र थे, तभी उनकी कहानियाँ मास्टर जी ने 'छाया' में प्रकाशित की थीं। उनके प्रथम कथा-संग्रह 'ग्रहण के बाद' की भूमिका भी लिखी थी। इन्द्रबहादुर खरे बड़े मधुर गीत लिखते थे, उन्हें कहानी लिखने के लिए मास्टर जी ने ही प्रेरित किया था।

मास्टर जी अपने निजी पत्रों में साहित्य के सम्बन्ध में अपना निष्पक्ष मत व्यक्त किया करते थे। इस दृष्टि से उनके अनेक पत्र महत्वपूर्ण हैं।

मैं तो उनसे पत्रों के माध्यम से अनेक विषयों पर विचार-विनिमय करता था। मेरे एक पत्र के उत्तर में उन्होंने एक बार लिखा था—'वृद्धावस्था में महत्वाकांक्षा नहीं रह जाती। प्रतिष्ठा के लिए भी लालसा नहीं होती। मैं दूसरे वृद्धों की बात तो नहीं कह सकता, पर मुझ में अब न महत्वाकांक्षा है, न प्रतिष्ठा के लिए लालसा है, परन्तु लिखना अवश्य चाहता हूँ। हिन्दी में नयी कविता और नयी कहानी को लेकर विज्ञ जन भले ही चर्चा करते रहें, पर मैं तो यही समझता हूँ कि विशुद्ध आनन्द का भाव ही हमको लिखने के लिए प्रेरणा देता है। नये लेखक हों अथवा पुराने लेखक हों, उनको अपनी रचना में आनन्द की अनुभूति अवश्य होती होगी। यह बात दूसरी है कि किसी को किसी प्रकार की रचना अच्छी न लगे। मुझे स्वयं अभी तक न नयी कविता अच्छी लगी, न नयी कहानी ही। परन्तु मैं यह नहीं कहूँगा कि उनमें गुण का कोई गौरव नहीं है। उनकी जो विशेषता है, उससे मैं स्वयं आकृष्ट नहीं होता। खाने-पीने की चीजों की तरह भिन्न-भिन्न रचनाओं के प्रति भी हम लोगों की अपनी एक रुचि हो जाती है। मुझे प्याज बिलकुल पसन्द नहीं है, परन्तु आजकल प्रायः सभी लोग प्याज पसन्द करते हैं। फिर भी मैं किसी भी स्थिति में प्याज नहीं खा सकूँगा। यही बात मैं नयी कहानियों और नयी कविताओं के सम्बन्ध में कह सकता हूँ। विज्ञ जनों की आलोचना पढ़ कर न मैं उनकी प्रशंसा कर सकता हूँ, न निन्दा। साहित्य के क्षेत्र में सचमुच एक ऐसा दल निर्मित हो गया है, जिनकी रचनाओं को पढ़ कर मैं अवाक् रह जाता हूँ। चुप रहना ही सबसे अच्छा है। इसीलिए मुझे उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की इच्छा ही नहीं होती। जब कोई पूछता है, तब यही कह देता हूँ कि मैं तो वह काला कम्बल हूँ, जिस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता।

मैं यह भी समझता हूँ कि साहित्य की गुण-गरिमा का सच्चा परीक्षक काल ही होता है। काल के आघात को सह कर जो रचना टिक जायेगी, वही अच्छी होगी। सभी में अपनी तरुणावस्था में आत्म-विश्वास की

दृढ़ता रहती है। इसी से सभी तरुण साहित्यकार यह समझते हैं कि उनकी रचनाओं में अपूर्वता है। वृद्धावस्था में यह आत्म-विश्वास नहीं रह जाता। इस समय अभिमान के लिए भी स्थान नहीं रहता। आधुनिक साहित्य की किन-किन रचनाओं में स्थायित्व है, इसका निश्चय भविष्य में होगा। अभी तो सभी एक विशेष महत्वाकांक्षा से प्रेरित हो कर किसी की स्तुति करते हैं या किसी की निन्दा करते हैं।'

अपने ३०-१२-६५ के पत्र में मास्टर जी ने उपर्युक्त जो दो टूक बातें लिखी थीं, वे अक्षरशः सत्य प्रमाणित हो रही हैं। नयी कहानी और सचेतन कहानी के आन्दोलन ठंडे हो गये तथा नयी कविता और अकविता के झंडे भी उखड़ गये। कहानी पुनः कहानी के असली 'फार्म' में लिखी जाने लगी। जिन कृतियों में पाठकों को किसी भी रूप में कथा-रस मिलता है, वही पढ़ी जाती हैं, भले ही उनकी शिविरबद्ध चर्चा और विज्ञापन न हो। सच्चे काव्य-रसिक अब भी रागात्मक भावनामयी कविता ही पढ़ते हैं। बुद्धिवादी कविता तथाकथित बुद्धिवादियों और नये समीक्षकों तक ही सीमित रह गयी है।

मेरी नयी कृतियों को पढ़ कर मास्टर जी ने बहुत साफ शब्दों में लिखा था—'आपकी साहित्यक कृतियों के सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट मत है कि आप अपने ही ढंग से लिखिए। नये साहित्यिकारों का अनुकरण मत कीजिए। सभी का अपना अलग-अलग ढंग होता है। अगर रचना अच्छी है तो वह पठनीय होगी। आप क्यों नये कहानीकारों का अनुकरण कर उन्हीं की तरह कहानियाँ लिखें ? बूढ़ों को बालों में खिजाब लगा कर तरुणों का स्वाँग नहीं करना चाहिए। आप जैसा लिखते रहे हैं, वैसा ही लिखिए।'

मास्टर जी ने मुझे एक ओर जहाँ सींग कटा कर बछड़े बनने के लिए तेज फटकार दी थी, वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त आत्म-विश्वास के साथ यह भी लिखा था—'आपकी कहानी अवश्य अच्छी होगी, मैं यह बात बिना कहानी पढ़े ही कह सकता हूँ, क्योंकि मैं अच्छी तरह से

समझता हूँ कि आप में एक सच्चे कहानीकार की क्षमता है। मैं अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में अवश्य संशय रखता हूँ पर पाठक के रूप में दूसरों की रचनाओं के सम्बन्ध में मुझे संशय नहीं रहता। जिसे अच्छा समझता हूँ, उसी को अच्छा कहता हूँ। जो मुझे खराब जान पड़ता है, उसे खराब कहने में नहीं हिचकता, भले ही वह किसी प्रसिद्ध लेखक की ही रचना क्यों न हो।'

मास्टर जी कथा-साहित्य के मर्मज्ञ ही नहीं, स्वयं सफल कथाकार भी थे। यह बात अलग है कि वे अपनी कथाओं को भी निबन्ध का ही दूसरा रूप मानते थे। मैं उनसे उपन्यास लिखाना चाहता था। इस दिशा में अनेक बार उन्होंने प्रयास भी किया था, लेकिन जब वे स्वयं उसे पढ़ते थे तो निराश होकर लिख देते थे—मैं उपन्यास नहीं लिख सकता। मुझे अनेक बार उन्होंने उपन्यास लिखने को प्रेरित किया था। कुछ समय पहले मैंने उनसे पूछा था कि यदि आत्मपरक उपन्यास लिखूँ तो कैसा रहे ? इस संदर्भ में उन्होंने अपने ४ अगस्त ७१ के पत्र में लिखा था—'आत्मपरक उपन्यास के सम्बन्ध में मेरा सुझाव यह है कि आप 'वन-फूल' के 'शिकारी' नामक उपन्यास को पढ़िए। कुल डेढ़ सौ पृष्ठों की किताब है। उसका बंगाली नाम 'भुवन सोम' है। मैं तो उसे पढ़ कर मुग्ध हो गया। उसमें केवल एक दिन की कथा है। उस एक दिन में उसने विगत जीवन की सारी बातें कह डाली हैं। एक-एक कर वे सब बातें उसके मन में उदित होती हैं। पुस्तक का अन्त तो बड़ा ही आकर्षक है। मैंने भी उसी तरह 'दिवस का अन्त' नाम देकर एक लंबी कहानी लिखने का प्रयत्न किया है। सौ पृष्ठ लिख लेने के बाद भी मुझे संतोष नहीं हुआ। आप 'शिकारी' अवश्य पढ़िए। उस ढंग पर आत्म-परक उपन्यास लिखा जा सकता है। जब मिलेंगे, तब विस्तारपूर्वक सब बातें समझाऊँगा···।'

इस तरह अन्त तक वे मेरे साहित्य-गुरु बने रहे—मेरे ही क्यों जाने कितनों के।

●

जिन्हें अपने शिक्षक होने पर गर्व था

●

- प्राचीन काल और मध्य-युग में विद्या का भार उन पर था, जो ज्ञान को कठोर साधना का फल मानते थे। इसीलिए विद्याभूमि तपो भूमि थी।
- राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए राष्ट्र के नेता सदैव शिक्षा की उन्नति में दत्तचित रहते हैं।
- छात्र-जीवन तपस्या का काल होता है। ज्ञान के लिए जो कष्ट सहना पड़ता है, वही तो तप है।
- आज जीवन में जो दोष उत्पन हो गये हैं, उनके मूल में आधुनिक शिक्षा भी काम कर रही है।
- शिक्षा के क्षेत्र में एक उच्च आदर्श का गौरव रहना चाहिए और शिक्षकों के जीवन में भी उसी आदर्श के अनुरूप गौरव रहना चाहिए।
- शिक्षकों को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक आर्थिक कष्ट सहना पड़ता है, इसलिए उन्हें असंतोष होगा ही।
- शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यवसाय का यह भाव आ गया है कि कम-से-कम द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। शिक्षार्थी भी कम से कम परिश्रम कर अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में यह अनैतिकता बढ़ती ही जा रही है। उसी के कारण शिक्षार्थियों में अनुशासनहीनता भी बढ़ रही है।

□□

यह सच है कि बख्शी जी ने अपनी साहित्य-साधना में कभी कोई गौरव नहीं देखा। वे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं—'साहित्य का पाठक और शिक्षक होने के कारण मैंने जो कुछ लिखा, वह पाठक और शिक्षक के दृष्टिकोण से ही लिखा। किसी विशेष विषय का ज्ञान न होने पर भी मैं ने दो-चार निबन्ध पढ़ कर अपना एक अलग निबन्ध लिख ही डाला। 'भानुमती का कुनबा' मेरी सभी कृतियों में विद्यमान है। न उनमें मौलिकता है, न नवीनता।' बख्शी जी की इस आत्म-स्वीकृति में कितनी सत्यता है, उसे साहित्य-मर्मज्ञ भली-भाँति जानते हैं। वास्तव में इस कथ्य से उनकी सहज विनम्रता ही प्रकट होती है। लेकिन उन्हें अपने शिक्षक होने पर गर्व था। वे जीवन भर स्वयं को प्राचीन परम्परा का शिक्षक मानते रहे। उनकी दृष्टि में शिक्षा का क्षेत्र साधना-भूमि था और ज्ञान कठोर-साधना का फल। इसीलिए साहित्य-जगत में व्यस्त रहने पर भी उनका शिक्षा-जगत से अटूट सम्बन्ध बना रहा। वे जिस तरह स्वान्तः सुखाय लिखते थे, उसी प्रकार स्वान्तः सुखाय पढ़ाते भी थे। अर्थ-प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी ज्ञान-दान नहीं दिया। शिक्षक के

रूप में उन्हें जब जहाँ जितना वेतन मिलता रहा, उससे वे सदा सन्तुष्ट रहे। सत्तरहवीं वर्ष गाँठ के अवसर पर, मैंने 'धर्मयुग' के लिए इंटरव्यू लेते समय उनसे स्पष्ट पूछा था—'क्या शिक्षक के रूप में आपने कभी असन्तोष का कोई कारण नहीं पाया ?' उनका उत्तर था—'मुझे असंतोष तब होता, जब मैं अधिक से अधिक पाने की लालसा करता। मैंने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अधिक से अधिक पाने की लालसा कभी नहीं की, मुझे जो मिला उसी से मैं संतुष्ट रहा। राजनाँदगाँव में सन् १९३३ में १४० रुपये वेतन पाता था। जब मैं १९३५ में खैरागढ़ में शिक्षक के पद पर नियुक्त हुआ तब मुझे ६० रुपये ही मासिक वेतन के रूप में मिले।'

बख्शी जी पूर्ण निष्ठा एवं लगन के साथ अध्यापन-कार्य करते थे। केवल परीक्षा उत्तीर्ण करा देने में उन्होंने कभी ज्ञान की गरिमा नहीं देखी। उनका मुख्य धेय छात्रों के जीवन में वास्तविक ज्ञान की ज्योति जगाना ही था। वे छात्रों में इस तरह घुल-मिल जाते थे कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच की सीमा-रेखा अपने-आप धूमिल पड़ जाती थी। वे अपने सभी छात्रों को अपना सहचर बना लेते थे। छात्रों के बीच रहना उन्हें बहुत पसन्द था। उन्होंने स्पष्ट लिखा भी है—'छात्रों के बीच रहते आने के कारण मैं एक चिर तारुण्य का अनुभव करता हूँ। मुझे तरुणों के उल्लास से उल्लास होता है, उनकी उच्छृङ्खलता में भी एक रस लेता हूँ। यह सच है कि मैं उन्हें समझाता हूँ, उनके कितने ही कार्यों की भर्त्सना करता हूँ और उनके प्रति आशंका भी प्रकट करता हूँ। उनसे असन्तुष्ट भी हो जाता हूँ। फिर भी उनके तारुण्य के प्रवाह में बह जाता हूँ।' [जिन्हें नहीं भूलूंगा : पृष्ठ २०३]

श्री दीवानचन्द्र शर्मा के शब्दों में, 'शिक्षा के क्षेत्र में वही लोग आते हैं, जिन्हें उसकी प्रेरणा मिलती है और जो कठिनाइयाँ झेल लेने की सामर्थ्य रखते हैं। ···शिक्षक सबसे बड़ा कलाकार है, जो देने में विश्वास

रखता है, लेने में नहीं।' इस कसौटी पर बख्शी जी सोलह आने खरे उतरते हैं। राष्ट्र के निर्माण में शिक्षा ही सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है, यह तथ्य सदा उनके ध्यान में रहता था। वे अपने छात्र को अधिक से अधिक सुयोग्य, चरित्रवान, विनम्र, परिश्रमी एवं सच्चा नागरिक बनाने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखते थे। जिस छात्र में तनिक भी साहित्य के प्रति रुचि देखते थे, उसे लिखने की प्रेरणा भी देते थे। मध्यप्रदेश के उदीयमान कवि श्री चन्द्रभूषण झा बख्शी जी के छात्र रह चुके हैं ! कालेज में बख्शी जी उनके शिक्षा-गुरु होने के साथ-साथ साहित्य-गुरु भी बन गये थे। इस संदर्भ में वे लिखते हैं—'जहाँ तक स्वयं अपनी ओर देख कर अपना सत्य-परिचय पाने की बात है, मैं जानता हूँ कि मैं एक साधारण छात्र था। कविता और कहानी में रुचि अवश्य थी, लेकिन लिखने की प्रतिभा की बातें करना स्वयं अपने ऊपर दोषारोपण के समान था। इसके विपरीत मैंने देखा कि पूज्य मास्टर जी ने पग-पग पर मुझे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रोत्साहित किया। ज्योति-स्तम्भ बन कर सदैव उन्होंने मेरा पथ-प्रदर्शन किया, जिसका स्पष्ट लाभ इतना तो अवश्य हुआ कि प्रतिभाहीन-मैं आज तुकबन्दी तो मजे में कर लेता हूँ।'

बख्शी जी ने जीवन भर अनेक कवियों और कहानीकारों का मार्ग-दर्शन किया था। उनके शब्दों में, 'मैंने जैसे कितने ही छात्रों को पढ़ाया, वैसे ही हिन्दी के कितने ही उदीयमान लेखकों की रचनाओं का संशोधन कर उन्हें साहित्य-कला की शिक्षा दी। मैं स्वयं आख्यायिका लिखने की क्षमता नहीं रखता, त मैंने कितने ही लेखकों को कथा का रहस्य समझाया है।'—[मेरी अपनी कथा : पृष्ठ १२५]

बख्शी जी का अपने शिष्यों पर निश्छल स्नेह-भाव था। किसी भी छात्र को संकटग्रस्त देखकर वे ऐसे चिन्तित हो जाते जैसे उनका सगा बेटा ही मुसीबत में पड़ गया हो। वे उसके संकट-निवारण के लिए कुछ भी कर सकते थे। कभी-कभी तो स्वयं को संकट में डाल कर उन्होंने अपने शिष्यों

की सहायता की थी। अपने एक शिष्य श्री लेखचन्द की उन्होंने जिस रूप में सहायता की थी, उसे कभी नहीं भुलाया जा सकता। लेखचन्द एक गबन-कांड में फँस गया था। एक निश्चित तारीख के भीतर चार सौ रुपये की व्यवस्था न होने पर न केवल उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता, जेल की सजा भी भुगतनी पड़ती। बख्शी जी सदैव अर्थाभाव के कारण कष्ट में रहते थे। वे पहले से ही कर्ज से लदे थे। उन्होंने अत्यन्त चिन्तित होकर मुझे लिखा कि 'श्रीमान···से उनके लिए चार सौ रुपये उधार माँगूँ। इसके बदले वे उनकी इच्छानुसार कोई साहित्यिक कार्य कर देंगे। वे पचास रुपये प्रति माह भेज कर कर्ज अदा करने के लिए भी तैयार थे। मैं ने उस लक्ष्मी-पुत्र साहित्यकार के पास जाकर सरस्वती के वरद पुत्र की प्रार्थना दुहरायी। लेकिन उसकी तिजोरी का ताला मेरे लाख गिड़गिड़ाने पर भी बन्द ही रहा। अन्त में बख्शी जी ने स्वयं कर्ज लेकर अपने शिष्य को जेल जाने से बचाया, नौकरी तो चली ही गयी।

एक और दूसरी घटना। हम लोग जबलपुर की इंडियन-प्रेस-ब्राँच में बैठे साहित्यिक चर्चा में व्यस्त थे। तभी एक तरुण मैले-कुचैले कपड़े पहने, अस्त-व्यस्त, सहमा-सहमा-सा हमारे सामने आ खड़ा हुआ। उस पर नजर पड़ते ही बख्शी जी के चेहरे पर चिन्ता और घबराहट के बादल छा गये। वे उससे बहुत देर तक छत्तीसगढ़ी में बात करते रहे। वह तरुण उनका प्रिय शिष्य स्वर्गीय कुञ्जबिहारी चौबे था, जो दिसम्बर की छुट्टियों में साहित्यिकों के दर्शन करने तीर्थराज प्रयाग चला गया था। उसने अपने माँ-बाप को यह भी नहीं बताया था कि वह कहाँ जा रहा है और कब लौटेगा। उसके पास के सब पैसे खर्च हो गये थे, आगे की यात्रा के लिए रेल-किराया तक नहीं था। प्रारम्भ में बख्शी जी ने उसे काफी डाँट-फटकार बतायी। इस डाँट-फटकार में उनका सहज स्नेह ही छिपा था। जिस पर हमारा जितना अधिक ममत्व होता है, उस पर हम

कभी-कभी उससे कहीं अधिक रोष प्रकट करते हैं। जब तक बख्शी जी ने उसे रेलगाड़ी में बैठा कर राजनाँदगाँव रवाना नहीं कर दिया, तब तक वे बराबर चिन्तित बने रहे। उन्होंने जिस आत्मीयता से उसके खाने-पीने और रेल-किराये की व्यवस्था की थी, वैसी आत्मीयता विरले लोगों में ही पायी जाती है। कुंजबिहारी उनका प्रतिभाशाली छात्र था, जिसकी रचनायें छात्र-जीवन में ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। मरणोपरांत 'कुंजबिहारी-काव्य-संग्रह' प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका बख्शी जी ने ही लिखी है।

'छात्र-जीवन तपस्या का काल होता है। ज्ञान के लिए जो कष्ट सहना पड़ता है वही तो तप है।' ये शब्द बख्शी जी ने एक बार अपनी एक शिष्या से कहे थे। वे अपने प्रत्येक छात्र से भी यही अपेक्षा रखते थे। उन्होंने अन्ध-गुरु-भक्ति को कभी प्रश्रय नहीं दिया। छात्रों की दुर्बलताओं और त्रुटियों से परिचित होने पर वे आंतरिक सहानुभूति और सहृदयता से ही काम लेते थे। अपनी इसी विशेषता से उन्होंने जाने कितने पथ-भ्रष्ट छात्रों की जीवन की गति बदल दी थी। यही कारण था कि वे अपने सभी छात्रों के लिए सदा श्रद्धा के पात्र बने रहे। बड़े से बड़े पद पर पहुँच जाने पर भी छात्र आगे बढ़ कर उनके चरण छूने में गौरव का अनुभव करते थे तथा हर तरह से सेवा के लिए कृत-संकल्प रहते थे। मैं उनके ऐसे अनेक छात्रों से परिचित हूँ, जिन्होंने संकट-काल में उनकी ऐसी सेवा की कि क्या कोई पुत्र करेगा। श्री विजयलाल ओसवाल के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्वयं लिखा है—'जब मैं एक बार कैंसर की आशंका से रोग-ग्रस्त हुआ तब विजयलाल जी और नर्मदाप्रसाद खरे ने ऐसी सेवा की जैसी पुत्र भी नहीं कर सकते।'—[जिन्हें नहीं भूलूँगा : पृष्ठ ७]

श्री किशोरीलाल शुक्ल की सेवाओं का उल्लेख करते हुए बख्शी जी ने 'अंतिम अध्याय' में लिखा है—'सन् १९५९ मेरे लिए बड़ा संकट काल था। खैरागढ़ में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी कि मेरे लिए खैरा-

गढ़ छोड़ना अनिवार्य हो गया, पर मैं समझ नहीं पाया था कि मैं कहाँ जाऊँ ? उसी समय श्री मेघनाथ कनौजे का एक पत्र मिला। उन्होंने लिखा था कि किशोरीलाल शुक्ल चाहते हैं कि मैं राजनाँदगाँव आकर उनसे मिलूँ। मैं तुरन्त राजनाँदगाँव आया और शुक्ल जी से मिला। उन्होंने कहा कि आप तो राजनाँदगाँव को खूब पसन्द करते हैं। क्या आप यहाँ रहना पसन्द करेंगे ? मैंने कुछ चकित होकर उत्तर दिया—मैं नाँदगाँव में रहना तो अवश्य चाहता हूँ, पर अब मेरे लिए यहाँ काम पाना कठिन है। उन्होंने कहा—आप इसी दिग्विजय कालेज में हिंदी का अध्यापन-कार्य कीजिये। मैंने चौंक कर कहा—मैं तो सिर्फ़ बी०ए० हूँ। कालेज में अध्यापक कैसे हो सकता हूँ ? उन्होंने उत्तर दिया—मैंने इसका प्रबन्ध कर दिया है। आप की स्वीकृति चाहिए। मैंने कहा—मेरे लिए यह तो कल्पनातीत गौरव की बात होगी। कुछ दिनों के बाद मैं सचमुच कालेज में अध्यापन का कार्य करने लगा और इस वृद्धावस्था में मेरी विशेष पदोन्नति हो गयी।' श्री शुक्ल के प्रदेश-मंत्रिमंडल में सम्मिलित हो जाने पर श्री मेघनाथ कनौजे ने प्राचार्य का कार्य-भार सँभाला। कनौजे जी ने अंतिम समय तक बख्शी जी की निस्पृह भाव से सेवा ही नहीं की, गुरु-शिष्य के गरिमामय सम्बन्धों को भी अक्षुण्ण बनाये रखा।

बख्शी जी ने अपने छात्रों से जो आदर और स्नेह पाया, उसे वे अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते थे। उन्होंने निश्छल भाव से अपने 'अंतिम अध्याय' में लिखा भी है—'साहित्य के क्षेत्र में काम करने के कारण कितने ही मेरे साहित्य-बन्धु हो गये। मैंने यह देखा कि साहित्य के क्षेत्र में विशेष परिचय न होने पर भी अनायास बन्धुत्व स्थापित हो जाता है। पर शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षकों के बीच वह बन्धुत्व-भाव क्षणिक ही रहता है। ज्योंही स्कूल या कालेज से कोई शिक्षक पृथक् हुआ, त्योंही अन्य शिक्षकों के साथ उसका स्नेह-सम्बन्ध नहीं रह जाता। छात्र-जन भी जैसे उसके लिए उपेक्षणीय हो जाते हैं, वैसे ही वह भी

छात्रों के लिए उपेक्षणीय हो जाता है। छात्र-जन पर शिक्षकों का कोई चिरस्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि कर्मक्षेत्र में प्रविष्ट होने पर छात्रों के लिए उनके शिक्षक उपेक्षा के पात्र बन जाते हैं। आज जब मैं अपने जीवन का 'अंतिम अध्याय' लिखने बैठा हूँ, तब मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरे लिए सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह है कि अपने छात्र-गण से मेरा स्नेह-सम्बन्ध बना रहा। यही नहीं, अपने कितने ही छात्रों के कारण मुझे अपने साहित्यिक कार्यों में सदैव सहायता मिलती रही है। मैंने शिक्षक के रूप में जो कुछ काम किया है, उससे कहीं अधिक गौरव मुझे अपने छात्रों के द्वारा मिला है। मैं सचमुच यह समझता आया हूँ कि मेरे ये छात्र भी वृद्धावस्था में मेरे संरक्षक हैं।'

बख्शी जी सर्वप्रथम सन् १९१६ में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् राजनाँदगाँव के स्टेट हाई स्कूल में शिक्षक नियुक्त हुए थे। जब सन् १९२० में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'सरस्वती' का सम्पादन करने के लिए अपने उत्तराधिकारी के रूप में बुलाया था, तब वे राजनाँदगाँव में ही शिक्षक थे। सन् १९२९ में स्वेच्छा से 'सरस्वती' का सम्पादक-कार्य छोड़ कर चले आने पर उन्होंने कुछ दिन काँकेर में भी शिक्षक का कार्य किया था। बाद में, सन् १९३३ में फिर राजनाँदगाँव में शिक्षक हो गये थे। फिर सन् १९३५ में खैरागढ़ के विक्टोरिया हाई स्कूल में उनकी नियुक्ति अँग्रेजी के शिक्षक के रूप में हुई थी। सन् १९४७ में देश के आजाद होते ही राजाओं का राज्य समाप्त हो गया। सभी रियासतें नयी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत चली गयीं। नयी व्यवस्था के आते ही बख्शी जी के सामने अनेक अड़चनें आयीं, जिससे उन्होंने १९४९ में स्वयं शिक्षक-पद से त्याग-पत्र दे दिया। कुछ समय पश्चात् वे खैरागढ़ की राजकुमारियों के ट्यूटर हो गये। दोनों राजकुमारियों के हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर वे बेकार से हो गये। तब अपने शिष्यों के विशेष यत्न से, सन् १९५९ में, वे

दिग्विजय महाविद्यालय में हिन्दी-प्रोफेसर के पद पर आसीन हुए और अन्त तक वहीं अध्यापन-कार्य करते रहे। इस तरह बख्शी जी का पूरा जीवन पढ़ने-पढ़ाने और लिखने-लिखाने में ही व्यतीत हुआ। शिक्षा-जगत में उन्होंने एक गाँधीवादी शिक्षक के रूप में कार्य किया तथा साहित्य-जगत में एक संत साहित्यकार के रूप में।

जब बख्शी जी छात्र थे, तब शिक्षा का स्वरूप आज की शिक्षा से एकदम भिन्न था। शिक्षक अपने छात्रों को सुयोग्य एवं संस्कारशील बनाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करते थे। स्कूल से गैरहाजिर रहने पर पर छात्र दण्डित होते थे। पढ़ाई में असावधानी और काम-चोरी के लिए भी उन्हें बेतों की कड़ी सजा दी जाती थी। छात्रावस्था में बख्शी जी पर भी बेत पड़े थे। जब वे स्वयं विक्टोरिया हाई स्कूल में शिक्षक हुए, तब शिक्षा की रीति-नीति में काफी परिवर्तन हो चुका था। शिक्षक अपने छात्रों को किसी प्रकार का भी शारीरिक दण्ड नहीं दे सकता था। वहाँ वह चपरासी भी नहीं था जो स्कूल से भाग जाने वाले छात्रों को पकड़ कर स्कूल लाया करता था। पढ़ाई-लिखाई की ओर भी शिक्षकों का कोई विशेष ध्यान नहीं था। येन केन प्रकारेण परीक्षा उत्तीर्ण करा देना ही अपना मुख्य कर्तव्य मानने लगे थे। अधिकांश शिक्षकों की आँखें घड़ी पर अटकी रहती थीं और कान छुट्टी के घन्टे की टन-टनाहट सुनने के लिए व्यग्र रहते थे। इसमें दो मत नहीं हैं कि आज शिक्षा के ढाँचे के साथ-साथ शिक्षक की मान्यताओं में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है। लेकिन बख्शी जी अन्त तक शिक्षक के रूप में कलाकार का ही जीवन जीते रहे। एक बार शिक्षक-जीवन की चर्चा छिड़ने पर उनके एक सहयोगी शिक्षक बोले—'जो गर्दभ पूर्व-जन्म में दूसरों के लिए आजीवन भार वहन कर सूखी घास खाता हुआ मर जाता है। वही दूसरा जन्म लेकर मास्टर होता है।' तब बख्शी जी ने विनम्रता पूर्वक कहा था—'यह आपका अपना मत है। आपकी कुंठा ही इन शब्दों में बोल रही

है। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद जब आपको कहीं कोई काम नहीं मिला, तब आप विवश होकर यहाँ साठ रुपये पर शिक्षक हो गये। इस लिए आप शिक्षक को इतनी हीन दृष्टि से देखते हैं। मैंने तो अपने शिक्षक-जीवन में कभी हीनता का अनुभव नहीं किया। मेरा अब भी स्पष्ट मत है जहाँ विद्या का क्षेत्र है, जहाँ ज्ञान की साधना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है, जहाँ सरस्वती की आराधना में सब लोग शुचिता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वहाँ किसी प्रकार का कालुष्य नहीं रह सकता। वहाँ कालुष्य अथवा ईर्ष्या के लिए स्थान ही नहीं है। प्राचीन काल में गुरुजन ज्ञान के आगे विश्व के समस्त वैभव को तुच्छ समझते थे। यह सच है कि आधु-निक युग में अब ज्ञान की वह साधना संभव नहीं है।' यह बात बख्शी जी ही कह सकते थे, क्योंकि उनका वाह्य और अन्तर एक था—कर्म और वाणी में कोई भेद नहीं था।

अनेक वर्षों तक शिक्षा-जगत में काम करने के कारण बख्शी जी ने एक चिन्तक के रूप में शिक्षा के हर पहलू पर विचार किया था। शिशु-कक्षा से लेकर एम० ए० तक की पाठ्य पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं। मेरी दृष्टि में वे एक आदर्श शिक्षक के साथ-साथ बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री भी थे। वर्तमान शिक्षा-पद्धति, परीक्षा-प्रणाली एवं दिन-प्रतिदिन छात्रों में बढ़ने वाली अनुशासनहीनता का उन्होंने तटस्थ भाव से जो विश्लेषण किया है, उसकी वास्तविकता को कोई भी विज्ञ नहीं नकार सकता : 'राष्ट्र-निर्माण में शिक्षकों के गौरव के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहा जाय, आजकल शिक्षा-क्षेत्रों में शिक्षार्थी और शिक्षकों के बीच में सद्भाव भी नहीं रहता। परीक्षा-प्रणाली के कारण किसी भी प्रकार परीक्षा उत्तीर्ण हो जाने के लिए शिक्षार्थी सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन करते हैं और यह देखा गया है कि शिक्षकों में भी कुछ ऐसे होते हैं जो ऐसी स्थि-तियों से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यवसाय का यह भाव आ गया है कि कम से कम द्वारा अधिक से अधिक लाभ

उठाया जाय। शिक्षार्थी भी कम-से-कम परिश्रम कर अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में अनैतिकता बढ़ती ही जा रही है। उसी के कारण शिक्षार्थियों में अनुशासनहीनता भी बढ़ रही है।'

●

'सरस्वती' का सम्पादन : कांटों का ताज

●

- प्रतिभा किसी प्रकार के बन्धन स्वीकार नहीं करती।
- किस रचना में स्थायित्व है, यह कहना कठिन है। इसकी यथार्थ परीक्षा तो काल ही करता है।
- किसी रचना का गुण-दोष बतला देने से ही समालोचना का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। समालोचना के लिए सब से बड़ी आवश्यक बात यह है कि उसमें उन सिद्धान्तो की विवेचना की जाय जिनके आधार पर साहित्य की प्रतिष्ठा होती है।
- किसी की भी किसी बात से चिढ़ कर मैंने उसको बुरा-भला लिखने में कमी नहीं की है। इसी प्रकार किसी की इच्छा के अनुसार कोई काम न करने पर मैं भी काफी भर्त्सना पा चुका हूँ! 'सरस्वती' सम्पादन-काल में तो मैं कितने ही साहित्य बन्धुओं का अप्रसन्नता-भाजन हो चुका हूँ।
- मिथ्या स्तुति या मिथ्या निन्दा से कोई न तो प्रोत्साहन पाता है और न कोई हताश होता है। साहित्य के उपवन में सभी के लिए स्थान है।
- स्मृति-रक्षा के लिए वहीं प्रयत्न किया जाता है जहाँ स्मृति के लोप का भय होता है। साहित्य के निर्माताओं की स्मृति-रक्षा उनक रचनाएँ ही कर सकती हैं।

□□

बख्शी ने अपने जीवन में कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि उन्हें एक दिन 'सरस्वती' के सम्पादक होने का गौरव प्राप्त होगा। वे अपनी छात्रावस्था में ही 'सरस्वती' के प्रेमी पाठक बन गये थे। जब नवीं कक्षा के छात्र थे, तभी सन् १९०९ में, 'सरस्वती' में प्रकाशित 'सावित्री का पातिव्रत' शीर्षक लेख पढ़ कर और उससे प्रेरणा पा कर उन्होंने लिखना आरम्भ किया था। सेन्ट्रल हिन्दू कालेज, काशी में श्री पारसनाथ सिंह उनके एक ऐसे सहपाठी थे जिनकी रचनायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगी थीं। बख्शी जी की हार्दिक इच्छा थी कि उनका भी कोई लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हो। लेकिन 'सरस्वती'-सम्पादक के पास अपना लेख भेजने का साहस हो, तब न! उन्होंने 'मेरी अपनी कथा' में लिखा है— 'मुझसे यह साहस नहीं हुआ कि मैं स्वयं 'सरस्वती' में कोई लेख लिखूँ, पर मन में एक उत्साह अवश्य हुआ। हिन्दू पेट्रियट नामक अंग्रेजी पत्र में मैंने सोना निकालने वाली चीटियों पर एक लेख पढ़ा। वह लेख बड़ा ही कौतूहलवर्धक था। मैंने उसी के आधार पर 'सोना निकालने वाली चीटियाँ' लेख लिख कर द्विवेदी जी के पास भेज दिया। जब उनकी स्वीकृति का

पत्र मुझे मिला, तब मैं कृतार्थ हो गया।'

एक दिन बख्शी जी ने प्रयाग से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' में एक विज्ञापन पढ़ा। 'सरस्वती' के सहायक सम्पादक के लिए प्रार्थना-पत्र आमंत्रित किये गये थे। उन दिनों वे राजनांदगाँव के स्टेट हाई स्कूल में अध्यापन-कार्य कर रहे थे। प्रारम्भ से ही उनके मन में साहित्य के क्षेत्र में कार्य करने की तीव्र लालसा थी। उन्होंने सहज भाव से आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पास एक कार्ड भेजा, जिसमें 'सरस्वती' में कार्य करने की इच्छा प्रकट की। जिस दिन उन्हें पं० लल्ली-प्रसाद पाण्डेय का पत्र मिला कि उनका चयन हो गया है और उन्हें कार्य-भार सँभालने शीघ्र प्रयाग आना है, उस दिन वे आश्चर्यचकित ही नहीं रह गये, प्रसन्नता से फूले नहीं समाये।

बख्शी जी अपनी साहित्यिक योग्यता से भली-भाँति परिचित थे। उन्हें अपने सम्बन्ध में कभी कोई भ्रम नहीं रहा। 'सरस्वती' में अभी तक उनके दो-चार लेख ही तो प्रकाशित हुए थे। सम्पादन-कला का अ-ब-स भी नहीं जानते थे। पहले दिन ही उन्हें लगा, कहाँ आ फँसा—सम्पादक बनने के मोह में स्वयं काँटों का ताज पहन लिया,—'मैं इण्डियन प्रेस में पहले ही दिन घबड़ा गया था। इसी से मैं तुरन्त ही कानपुर चला गया और द्विवेदी जी से यही कहा कि मैं तो कुछ समझ ही नहीं सकता कि मुझे क्या करना चाहिए ? द्विवेदी जी ने कहा, मैंने सरस्वती की कापी भेज दी है, उसे देख लेना। सब समझ में आ जायेगा। कुछ नोट लिख कर भेजा करो और कुछ लेख। जो लेख वहाँ आवें और उनमें जो ठीक जान पड़ें, उन्हें भेज दिया करो। ऐसे ही दो-चार आदेश पा कर मैं उसी दिन वापस लौट आया।'

बख्शी जी छात्रावस्था से ही अध्येता, परिश्रमी और लगनशील थे। नयी-नयी पुस्तकें खोज-खोज कर पढ़ने का तो मानो उन्हें व्यसन ही था। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली पाठ्य-सामग्री से भी अपरिचित नहीं

थे। धैर्य और उत्साह के साथ काम करने लगे। द्विवेदी जी को उनके कार्य से पूर्ण सन्तोष हुआ। सन् १९२० की समाप्ति पर द्विवेदी जी को प्रेस से पेंशन मिल गयी और सन् १९२१ में बख्शी जी सहायक-सम्पादक से प्रधान-सम्पादक हो गये। सहकारी-सम्पादक के रूप में उन्हें पं० देवी-दत्त जी शुक्ल प्राप्त हुए। प्रारम्भ में बख्शी जी और शुक्ल जी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। द्विवेदी जी के सम्पादक-पद से हटते ही, स्वनामधन्य साहित्यकारों ने 'सरस्वती' से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। वे बख्शी जी जैसे नवयुवक को 'सरस्वती'-सम्पादक के आसन पर देख कर हतप्रभ रह गये थे और उनके पास अपनी रचनायें भेजने में हीनता का अनुभव करते थे। फिर भी बख्शी जी हताश नहीं हुए। वे स्वयं अधिक से अधिक लेख लिखने लगे। शुक्ल जी को भी बहुत परिश्रम करना पड़ा। शुक्ल जी ने 'सम्पादक के पचीस वर्ष' में इस संदर्भ की चर्चा करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में मुझे सारी 'सरस्वती' का प्रूफ पढ़ना पड़ता था। प्रूफ पढ़ने के सिवा मुझे 'सरस्वती' के लिए आवश्यक लेख भी लिखने पड़ते थे जो सब के सब अनुवाद ही होते थे। अंग्रेजी का जो लेख बख्शी जी 'सरस्वती' में छापना चाहते थे और जो 'सरस्वती' में छपने के लिए अंग्रेजी में आते थे, प्राय: उन सब का अनुवाद मुझे ही करना पड़ता था। द्विवेदी जी के हट जाने पर हम लोगों को लेख मिलने एक प्रकार से बन्द हो गये थे। अतएव 'सरस्वती' के लिए हम दोनों को कभी-कभी दो-दो चार-चार तक लेख लिखने पड़ते थे। ऐसी ही कठिनाई के साथ हम लोगों ने 'सरस्वती' का काम उठाया था, परन्तु हम लोगों को लेख न मिलने की चिन्ता कभी नहीं हुई। हम लोगों में काम करने का उत्साह था और परिश्रम के साथ काम करने का चाव भी था—सन् १९२१ की जनवरी का अंक विशेषांक था, और मासिक पत्रों में कदाचित वही पहले-पहल विशेषांक निकला था। उसकी योजना बख्शी जी ने बनायी थी और बँगला के मासिक पत्रों

के अनुकरण पर उसमें नये स्तम्भ खोले गये थे।'

'सरस्वती' के प्रकाशन का उद्देश्य कभी अर्थोपार्जन नहीं रहा। सन् १९०० में विशुद्ध सेवा-भाव को ले कर ही उसका प्रकाशन आरम्भ हुआ था और आज भी उसकी वही रीति-नीति है। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के माध्यम से लोक-रुचि परिष्कृत की, सत्साहित्य का प्रचार किया, ज्ञान की श्रीवृद्धि की, जन-समाज में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के पहचानने की क्षमता उत्पन्न की। इतना ही नहीं, बख्शी जी के शब्दों में, 'द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके ही नहीं रुक गये, उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिन्दी-साहित्य के मंदिर को कलुषित होने से बचाया, उन्होंने हिन्दी-साहित्य को उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भाषा और क्या भाव, कहीं भी उन्होंने विकार नहीं आने दिया। जहाँ उन्होंने भाषा या भाव सम्बन्धी कालुष्य देखा, वहीं उसका विरोध किया, फिर चाहे उसका प्रवर्तक कितना ही बड़ा साहित्यसेवी क्यों न हो। असत्य का उन्होंने सदा मूलोच्छेद किया, साहित्य में सस्ती कीर्ति लुटाने वालों के लिए उन्होंने जगह ही नहीं रक्खी, इसीलिए उनके सम्पादन-काल में समस्त हिन्दी-साहित्य पर आतंक-सा छाया हुआ था।' उन्होंने द्विवेदी जी के पद-चिह्नों पर चल कर 'सरस्वती' की पूर्व-प्रतिष्ठाको अक्षुण्ण बनाये रखने के साथ ही कुछ नये स्तम्भ खोले तथा उसकी पाठ्य-सामग्री को और भी अधिक प्रांजल तथा साहित्यिक बनाने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली।

द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में 'सरस्वती' का पुस्तक परिचय स्तम्भ अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इसके अन्तर्गत एक समीक्षक के रूप में वे कठोर निरीक्षक की भाँति अपना मत प्रकट करते थे। इसीलिए उनके आचार्यत्व का लोहा समस्त हिन्दी-संसार मानता था। बख्शी जी ने समालोचक की गरिमा की विवेचना करते हुए लिखा है—समालोचक की आँख सदैव खुली रहती है और कान सदा चैतन्य रहते हैं। उसे हृदय और भावनाओं

का तथा नैसर्गिक और बौद्धिक विकास दोनों प्रकार का अच्छा ज्ञान रहता है। वह साहित्य का मर्मज्ञ होता है—इस विषय में तो कहना ही क्या, सारी पुस्तकों का भंडार उसकी हथेली पर नाचता है। सच पूछो तो उसे पुस्तकों का व्यसन-सा होता है। इन सब गुणों से युक्त होने पर ही समालोचक सच्चा समालोचक हो सकता है। यही बात द्विवेदी जी में थी।' बख्शी जी ने आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी का निष्ठापूर्वक अनुसरण ही नहीं किया, तत्कालीन आलोचना-पद्धति को नयी दिशा भी दी। पं० देवीदत्त शुक्ल ने इस प्रसंग में लिखा भी है—'इन वर्षों में बख्शी जी ने साहित्य-सम्बन्धी ऐसे महत्व के लेख लिखे कि पहले-पहल हिन्दी-साहित्य के इतिहास की रूपरेखा लोगों के आगे आयी। 'विश्व-साहित्य' और 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श में वही सब लेख हैं। आज हिन्दी में जिस नये ढंग की आलोचना का महत्व है, उसका बीज-वपन पहले-पहल बख्शी जी ने ही किया था। बीज-वपन ही क्या, सन् २१ से २५ तक की 'सरस्वती' में वे साहित्य के विशिष्ट आलोचक के रूप में दिखायी देते हैं।'

बख्शी जी के मतानुसार श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'कैसी आँखमिचौनी खेली' और पं० मुकुटधर पाण्डेय की 'कुररी के प्रति' आदि कविताओं में छायावाद की प्रारंभिक छवि लक्षित होने लगी थी। जब उन्होंने सर्वप्रथम श्री सुमित्रानन्दन पंत की 'कलरव' शीर्षक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित की और बाद में 'मौन निमंत्रण' और 'शिशु' आदि कविताओं को लगातार प्रथम पृष्ठ पर छापना आरम्भ किया, तब समस्त साहित्य-जगत में जैसे आँधी-सी आ गयी। स्वयं द्विवेदी जी, पं० पद्मसिंह शर्मा ने छायावादी काव्य-धारा का घोर विरोध किया। शर्मा जी ने अपने एक लेख में लिखा था, 'हिन्दी की नवीन कविता में भाषा, भाव, शैली सभी कुछ नये हैं और अपरिचित भी। कवि कुछ कह रहे हैं, यह तो सुन पड़ता है पर क्या कह रहे हैं, यह समझ में नहीं आता।' आचार्य द्विवेदी जी ने पं० देवीदत्त शुक्ल को एक पत्र में पंत जी की कविता पर रोष प्रकट करते हुए

लिखा था,—'कानपुर के पं० जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' बड़े अच्छे कवि हैं। 'सरस्वती के कविता-स्तम्भ को चमकाने के लिए मैंने उनसे कहा था कि आपको कभी-कभी कविता भेजा करें। उन्होंने शायद भेजी भी थी। पर पुरस्कार देना तो दूर, आपने उन्हें 'सरस्वती' तक नहीं भेजी। पहा० पं० (पहाड़ी पंत) से उनकी कविता हजार दर्जे अच्छी होती है।'

स्वयं द्विवेदी जी के तीव्र विरोध करने के बाद भी, 'सरस्वती' में नयी भाव-भूमि और नयी शैली की कवितायें अबाध गति से प्रकाशित होती रहीं, जिनमें लोक-हित की भावना और नवजागरण के संदेश के स्थान पर कल्पना के सौन्दर्य और स्वप्नों की मनोरम छाया का ही प्राधान्य था। बख्शी जी स्वयं आलोचना की भाँति काव्य को नये तेवर देने लिए के लिए कटिबद्ध थे। उन्हें जो कवितायें पसंद आती थीं, उन्हें ही वे बिना किसी हिचक के 'सरस्वती' में प्रकाशित करते थे। जिन कविताओं में उन्हें कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती थी, उन्हें वे निःसंकोच लौटा देते थे। एक बार उन्होंने 'निराला' जी की कविता भी लौटा दी थी। 'निराला' तथा उनके समर्थकों ने इस पर बहुत रोष प्रकट किया था। उनके विरुद्ध एक आन्दोलन ही खड़ा कर दिया था। लेकिन इसकी उन्होंने कोई परवाह नहीं की। इसी प्रकार एक बार उन्होंने 'उग्र' जी का सूरदास पर लिखा हुआ लेख लौटा दिया था। कुछ दिनों बाद काशी के 'आज' में जब उग्र जी की 'माँ' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई तो वे उसे पढ़ कर मुग्ध हो गये और उनकी कहानियाँ प्रकाशित करने के लिए व्यग्र हो उठे। लेकिन 'उग्र' जी ने 'सरस्वती' के लिए फिर कभी अपनी रचना नहीं भेजी। इस संदर्भ में बख्शी जी ने 'मेरी अपनी कथा' में लिखा भी है—'निराला जी की क्रान्तिकारी कविता को छापने का साहस मुझे नहीं हुआ, परन्तु 'उग्र' जी की कहानियों के लिए मैं अवश्य लालायित रहा।' इससे यह स्पष्ट है कि बख्शी जी ने नये लेखकों की नयी शैली की रचनाओं का प्रकाशन तो अवश्य किया, लेकिन अपनी

मान्यताओं पर आँच नहीं आने दी। उन्होंने स्वयँ स्वीकार किया है, 'सामयिक पत्रों में एक ओर लोक-रुचि का अनुसरण करना पड़ता है, इसके लिए लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की भी सहयोगिता प्राप्त करनी पड़ती है और नये लेखकों की भी खोज करनी पड़ती है। पत्र में पाठकों की रुचि के अनुसार मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री भी संचित करनी पड़ती है और उनकी रुचि को परिमार्जित करने के लिए विषय-वैचित्र्य के साथ-साथ नवीनता का भी समावेश करना पड़ता है। रुचि-वैचित्र्य के कारण कल्पना-प्रसूत साहित्य की परीक्षा बड़ी कठिन होती है। जो रचना एक को अच्छी लगती है, वही दूसरे को निकृष्ट मालूम होती है। मैं स्वयं अपने मित्र पं० भगवती प्रसाद जी बाजपेयी की कहानियों को पसंद नहीं कर सका, आज वे हिन्दी के प्रख्यात कथाकार हैं।'

बख्शी जी ने कथा-साहित्य की समृद्धि की ओर भी विशेष ध्यान दिया। द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में बहुत कम मौलिक कहानियों को 'सरस्वती' में स्थान मिला था। अधिकांशतः अंग्रेजी अथवा बँगला के अनुवाद ही प्रकाशित होते थे। बख्शी जी ने स्वयं अनेक लघु कथायें लिखीं तथा अन्य लेखकों से भी वस्तु-वैचित्र्य-प्रधान कहानियाँ लिखायीं। पं० इलाचन्द्र जोशी की पहली कहानी 'परदेशी' बख्शी जी ने ही छापी थी। प्रेमचन्द्र और सुदर्शन 'सरस्वती' के माध्यम से ही हिन्दी में आये थे, मूलतः वे उर्दू के लेखक थे। श्री मंगलाप्रसाद विश्वकर्मा, रामानुजलाल श्रीवास्तव, आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव और पं० गिरजादत्त शुक्ल गिरीश की अधिकांश कहानियाँ 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई हैं। सुश्री तेजरानी दीक्षित और सत्यवती दुबे को भी उन्होंने कहानी लिखने के लिए प्रेरित किया था। तेजरानी दीक्षित ने तो बख्शी जी पर ही एक कहानी लिख डाली थी, जो 'सरस्वती' में 'फिलासफर' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी।

उन्होंने नये लेखकों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कहानी की समस्या दे कर लेखकों से उसकी पूर्ति माँगी थी। वह अपने ढंग का एकदम नया

प्रयास था। लेकिन इसकी कोई उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया नहीं हुई, इसलिए दो समस्याओं के बाद इसे बन्द कर देना पड़ा।

द्विवेदी जी ने अपनी तेजस्विता से हिन्दी-जगत में 'सरस्वती' का गौरवपूर्ण स्थान बना दिया था। उसके गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखना बख्शी जी जैसे नवयुवक के लिए आसान नहीं था। फिर भी उन्होंने अपनी सूझ-बूझ, अध्यनशीलता, विचारों की दृढ़ता तथा परिश्रम से उसका स्तर नीचे नहीं गिरने दिया। भले ही उन्हें अनेक तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, व्यंग्य-बाणों का प्रहार सहना पड़ा और जाने कितनों का कोप-भाजन भी बनना पड़ा। लेकिन यह सच है कि वे 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में पूर्ण रूप से आश्वस्त और निश्चिन्त कभी नहीं रहे। इसीलिए वे बीच में ही, सन् १६२५ के अक्टूबर में, प्रेस की नौकरी छोड़ कर खैरागढ़ चले आये थे। इसके बाद पं० देवीदत्त शुक्ल जी पर 'सरस्वती' का पूरा भार आ गया था। सन् १६२७ में बख्शी जी ने पुनः सरस्वती में कार्य करने की इच्छा प्रकट की और उन्हें ससम्मान बुला लिया गया। वे पुनः 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक हो गये। लेकिन वे स्थायी रूप से वहाँ कार्य न कर सके और सन् १६२६ में उन्होंने फिर स्वेच्छा से त्याग-पत्र दे दिया। बख्शी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन क्यों छोड़ा, इसकी सही जानकारी मुझे नहीं है। इस संदर्भ में पं० देवीदत्त शुक्ल ने लिखा है—"उस समय 'माधुरी' और 'चाँद' दोनों ही पत्रिकायें बड़े धूम-धाम के साथ निकलती थीं। परन्तु 'सरस्वती' अपनी अलग विशेषता रखती थी। और इसका सारा श्रेय उसके विद्वान सम्पादक बख्शी जी को था, परन्तु बख्शी जी बड़े ही भावुक थे। वे लोगों के तीव्र कटाक्षों तथा कुत्सापूर्ण संकेतों को अधिक समय तक नहीं सह सके। अन्त में ऊब कर बख्शी जी ने 'सरस्वती' से अलग हो जाना ही श्रेयस्कर समझा।"

सन् १६५२ से १६५६ तक बख्शी जी ने पुनः 'सरस्वती' का सम्पादन

किया था। इस समय वे खैरागढ़ से ही सम्पादकीय लेख लिख कर भेज दिया करते थे, जो अपने-आप में एक खासा लम्बा गंभीर निबन्ध हुआ करता था। इस समय सहकारी-सम्पादक के रूप में पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्ती' कार्य करते थे।

□□

⊙ गार्डिनर के कुछ निबन्धों में तो कहानी का विशुद्ध तत्व पाता हूँ। उनमें जीवन की मार्मिक घटनाओं का वर्णन होता है। मैं ने भी कुछ ऐसे निबन्ध लिखे हैं, जो कहानियों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

⊙ गार्डिनर के मतानुसार, हैट टांगने के लिए कोई भी खूँटी काम दे सकती है उसी तरह अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए कोई भी विषय उपयुक्त है- असली वस्तु है हैंट, खूँटी नहीं। इसी तरह मन के भाव ही तो यथार्थ वस्तु है, विषय नहीं।…मैंने ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव ही नहीं किया जिसमें भाव अपने आप उत्थित हो जाते हैं। मुझे तो सोचना पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है, तब कहीं मैं एक निबन्ध लिख सकता हूँ।

⊙ उपन्यास में एक विशेष कला की निपुणता चाहिए। निबन्धों में भी रचना की एक विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है। सच तो यह है कि रचना की कुशलता प्राप्त करने के लिए उपन्यास-लेखक को जो प्रयास करना पड़ता है, वही प्रयास निबन्ध-लेखक को भी करना पड़ता है।

⊙ मैंने अपने सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति के लिए प्रयास किया है। मैं मौलिकता का दावा नहीं करता। मैंने तो जो कुछ देखा, सुना, पढ़ा, उन सभी को निबन्धों में निबद्ध कर दिया है।

□□

आधुनिक हिन्दी-निबन्ध के उन्नायकों में बख्शी जी का विशिष्ट स्थान है। द्विवेदीयुगीन निबन्ध को नया मोड़ देने में उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। उन्होंने सभी तरह के निबन्ध लिख कर हिन्दी-गद्य को समृद्ध किया। वर्णनात्मक, विचारात्मक, संस्मरणात्मक, आलोचनात्मक, कथात्मक, चित्रात्मक निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने संलाप, पत्र और डायरी के रूप में भी निबन्ध लिखे। डॉ० रवीन्द्र भ्रमर के मतानुसार, 'निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एक विशिष्ट शैलीकार के रूप में आते हैं। आपने जीवन, समाज, धर्म, संस्कृति और साहित्य आदि विभिन्न विषयों पर उच्चकोटि के ललित निबन्ध लिखे हैं। आप के निबन्धों में नाटक की रमणीयता और कहानी जैसी रंजकता पायी जाती है। यत्र-तत्र शिष्ट हास्य तथा गंभीर व्यंग्य-विनोद की अवतारणा करते चलना आप के शैलीकार की प्रमुख विशेषता है।

छात्रावस्था में ही बख्शी जी ने निबन्ध लिखना आरम्भ कर दिया था। जब वे बी० ए० के छात्र थे, तभी 'सरस्वती' में उनका पहला लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था 'सोना निकालने वाली चीटियाँ'।

यह निबन्ध 'हिन्दू पेट्रियाट' में प्रकाशित एक लेख पर आधारित था। इसके बाद उनके और भी लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए जिनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ने द्विवेदी जी को प्रभावित किया। बाद में, अपने इन्हीं लेखों के कारण, उन्हें सन् १६२० में सरस्वती के सहायक-सम्पादक बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ।

'सरस्वती' के सम्पादन-काल में बख्शी जी ने सभी तरह के निबन्ध लिखे। कुछ निबन्ध तो विभिन्न छद्म नामों से प्रकाशित हुए। कारण यह था कि द्विवेदी जी के 'सरस्वती' से हटते ही पुराने लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना बन्द कर दिया था। इस समय उन्होंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे जिनकी ओर समस्त साहित्य-जगत का ध्यान आकृष्ट हुआ। पुराने आलोचक तो उन्हें पढ़ कर हतप्रभ रह गये थे। बख्शी जी ने आलोचना की प्रचलित तुलनात्मक शैली के स्थान पर एक नयी आलोचना-पद्धति अपनायी थी। इस संदर्भ में उन्होंने अपने 'पचास वर्ष' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—'सरस्वती' में पं० रामप्रसाद त्रिपाठी का एक लेख ब्रज-भाषा के काव्य-साहित्य पर प्रकाशित हुआ। मैं उस लेख को बड़ा महत्वपूर्ण समझता हूँ। उसके पहले हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के नाम से जो लेख प्रकाशित होते थे, उनसे मुझे विरक्ति हो जाती थी। उन दिनों बिहारी और देव को लेकर यथेष्ट साहित्यिक विवाद भी हुए। त्रिपाठी जी ने पहली बार हिन्दी में समालोचना की नई पद्धति प्रदर्शित की। उसके बाद उन्होंने कदाचित फिर कोई साहित्यिक निबन्ध नहीं लिखा। पर उनके उसी साहित्यिक निबन्ध से मैं भी हिन्दी-साहित्य का विशेष अध्ययन करने लगा। मैं पाश्चात्य समालोचना-पद्धति से कुछ परिचित था। बँगला-साहित्य में भी कितने ही आलोचनात्मक निबन्ध निकले थे। मैंने उन सभी का अध्ययन किया और उन्हीं के आधार पर मैं साहित्य का विवेचन करने लगा। द्विवेदी जी ने मेरे 'कविता का भविष्य' लेख को पसन्द किया। उन्होंने मेरे 'वाल्ट ह्विटमैन' शीर्षक लेख की भी प्रशंसा की।

'सरस्वती' के सम्पादन-काल में बख्शी जी ने ऐसे अनेक निबन्ध लिखे जिनमें पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी की तुलना करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है। वास्तव में आधुनिक आलोचना-प्रणाली के प्रवर्तक बख्शी जी हैं। इस दृष्टि से उनके 'विश्व-साहित्य' और 'हिन्दी-साहित्य-विमर्श' नामक ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्व है।

जीवन-मूल्यों और कला के मान-दंडों के प्रति बख्शी जी की गहरी आस्था थी। आलोचना के सम्बन्ध में उनकी मान्यता थी कि किसी रचना के गुण-दोषों की विवेचना करने के लिए हमें व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा कर उन सिद्धान्तों के अनुसार आलोचना करनी चाहिए, जिनसे साहित्य की यथार्थ महिमा प्रकट होती है। सत् और असत् की विवेचना ही समालोचना है। अपनी इस मान्यता का वे कठोरता से पालन करते थे। इस संदर्भ में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के प्रोफेसर पं० शिवाधर पाण्डेय श्री सुमित्रानंदन पंत की कविताओं के बहुत बड़े प्रशंसक थे। 'सरस्वती' के जिस अंक में पाण्डेय जी का पंत जी के सम्बन्ध में एक प्रशंसात्मक लेख प्रकाशित हुआ था, उसी अंक में बख्शी जी ने पंत जी के 'उच्छ्वास' की कटु आलोचना की थी। बाद में पंत जी की 'मौन निमंत्रण' और 'शिशु' आदि कविताओं से प्रभावित होकर वे उनके भक्त-अनुचर बन गये थे और लगातार उनकी रचनायें 'सरस्वती के' प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित करते रहे। वे एक निष्पक्ष समालोचक ही नहीं, साहित्य के कुशल पारखी भी थे।

बख्शी जी के निबन्धों में साहित्य की ही अधिक विवेचना है। साहित्य की सभी विधाओं पर उन्होंने अपने सन्तुलित और निष्पक्ष विचार व्यक्त किये हैं। जिस अधिकार के साथ आधुनिक काव्य की समीक्षा की, उसी अधिकार से प्राचीन काव्य के सभी पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण भी किया। काव्य चाहे नया हो या पुराना, उसके सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि कविता असीम भाव-जगत की सृष्टि है। ज्ञान नियंत्रण

करता है, भाव स्वच्छन्दता लाता है। कविता में जो कला की विशेषता लक्षित होती है, वह कवि की स्वच्छन्द कल्पना की बिलकुल अपनी वस्तु है। उसको कल्पना के लिए कोई भी स्थिति बाधक नहीं होती। कवित्व-कला में कवि की अपनी रचना-शक्ति रहती है, उसकी अपनी अनुभूति रहती है और इसी में उसकी अपनी महिमा रहती है। जो कवि होता है, वह अपने लिए अपना एक पथ बना लेता है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि प्रतिभा किसी प्रकार के बन्धन को स्वीकार नहीं कर सकती है। प्रतिभा अपना नियम आप बना लेती है। परन्तु प्रतिभा की सृजन-शक्ति में और असंयतों की उच्छृङ्खलता में भेद है। इस तरह उनमें प्राचीन एवं नवीन की समन्वय-दृष्टि थी। उनके काव्यालोचन-परक निबन्ध 'प्रदीप' और 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा' में संग्रहीत हैं। 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा', की भूमिका में डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—प्रस्तुत रचना में एक अनुभवी लेखक द्वारा किया गया हिन्दी साहित्य का सहृदयतापूर्ण विश्लेषण है, जिसमें मौलिक विशेषताओं की परख पर लेखक ने विशेष ध्यान दिया है।

बख्शी जी काव्य-मर्मज्ञ की भाँति कथा-मर्मज्ञ भी थे। हिंदी, अंग्रेजी और बंगला की प्रायः सभी प्रमुख कथा-कृतियाँ उन्होंने पढ़ी थीं। उनके निबन्धों में कथा-तत्व ही प्रमुख है। कथा-शैली में निबन्ध-रचना करने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी। उन्हें इस तरह के निबन्ध लिखने की प्रेरणा बंकिम-निबन्धावलि से प्राप्त हुई थी। उसे उन्होंने पचास बार पढ़ा था। बंकिम बाबू के समान, रवीन्द्रनाथ और शरतचन्द्र ने भी अनेक निबन्ध कथा-शैली में लिखे हैं, जिनकी स्पष्ट छाप बख्शी जी के निबन्धों पर भी है। उनके ऐसे अनेक निबन्ध हैं जिन्हें कहानी कहा जा सकता है। उनके निबन्ध पढ़ कर कहानी का भ्रम होता है और कहानो पढ़ कर निबन्ध का। 'मेरे प्रिय निबन्ध' में उन्होंने 'झलमला' और 'गुड़िया' को भी स्थान दिया, जो विशुद्ध कथा-कृतियाँ हैं। इसके पूर्व उनके 'झलमला'

नामक कहानी-संग्रह में प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कहानी के रूप में भी वे निबन्ध ही लिखते थे।

'हिन्दी-कथा-साहित्य' बख्शी जी का बहुचर्चित ग्रंथ है। इसमें एक कथा-गुरु की भाँति उन्होंने उपन्यास तथा कहानी के सभी अंगों की तल-स्पर्शी विशद विवेचना की है। कथा के सम्बन्ध में उनके अपने कुछ आदर्श और प्रतिमान हैं, उसी आधार-भूमि पर ही उन्होंने कथा-साहित्य का विवेचन किया है। 'अंचल' जी शब्दों में, 'कथा-साहित्य उनका प्रिय विषय है और बड़ी तटस्थता के साथ कथाकारों की सफलता व असफलता का निदर्श करते हैं। उनके कुछ विशेष साहित्यिक आदर्श हैं, जिनके अनुरूप वे कलाकार को देखना चाहते हैं। यहाँ तक कि अपनी साहित्यिक कल्पनाओं में बारम्बार पुनरावृत्ति करने में वे नहीं चूकते और पाठक को उनकी आलोचनाओं में खटकनेवाली एकरसता मिलती है। पर जीवन के सत्यों और कला के मानों के प्रति बख्शी जी की आस्था गहरी है। इस लिए उनकी कथा-साहित्य की आलोचना में बार-बार की जाने वाली कथा-रस की माँग और मनोरंजकता पर उनका आग्रह खटकता नहीं।'

बख्शी जी के अधिकांश निबन्ध वैयक्तिक हैं। वे अत्यन्त साधारण घटना पर भी बड़ी कुशलता से निबन्ध लिख लेते थे। उनके सामने निबन्ध के लिए विषय-वस्तु की कठिनाई कभी उपस्थित नहीं हुई। उनकी दृष्टि में, विषय से अधिक शैली का महत्व था। साहित्यकार अपनी विशेष शैली से ही अपना अलग व्यक्तित्व बनाता है। सच तो यह है कि निबन्धों में विषय गौण है और अनुभूति मुख्य है। कोई भी विषय हो, उसमें हम अपनी ही बात कहते हैं। ए० जी० गार्डिनर के कथनानुसार कैसी भी खूँटी क्यों न हो वह हैट टाँगने के लिए ही है। इसी तरह कोई भी विषय क्यों न हो, हम उसमें अपनी ही बात कहेंगे, उसमें मन की एक विशेष अवस्था ही काम करेगी। निबन्ध की शास्त्रीय मान्यताओं के वे कभी कायल नहीं रहे। उनका स्पष्ट मत था कि जिस प्रकार सच्ची कविता विशुद्ध आनन्द

के लिए लिखी जाती है, उसी प्रकार आनन्द-प्राप्ति के लिए निबन्ध भी लिखा जाता है। इसी भावना से वे जीवन-पर्यन्त निबन्ध लिखते रहे। इस बात को लेकर वे कभी चिन्तित नहीं हुए कि उनके निबन्धों का साहित्य-जगत में क्या मूल्य होगा, उनमें स्थायित्व है अथवा नहीं। उन्होंने 'बख्शी जी के निबन्ध' में साफा-साफ लिखा भी है—अंग्रेजी के निबन्ध या प्रबन्ध के लिए जिस 'एसे' शब्द का प्रयोग होता है, उसके मूल में व्यक्ति की अपनी चेष्टा या प्रयास का भाव विद्यमान है। निबन्ध में कोई भी व्यक्ति अपने ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करता है। यह उसकी अपनी चेष्टा है, इसलिए अन्य रचनाओं की अपेक्षा उसमें उसका अपना व्यक्तित्व विशेष रूप से परिस्फुटित होता है। उसमें उसका अपना ज्ञान है, अपना भाव है, अपना कर्म है, अपनी अनुभूति है।

बख्शी जी में प्रारम्भ से ही निबन्ध-लेखक बनने की लालसा थी। वे सभी प्रकार के निबन्ध पढ़ते थे। जो निबन्ध उन्हें अच्छे लगते थे या जिनमें निबन्ध-कला की कोई विशेषता उन्हें दिखाई देती थी, उन्हें वे काट कर अलग रख लेते थे। बहुत वर्षों तक उनके पास यह संग्रह सुरक्षित रहा और अनेक बार उन्होंने इन निबन्धों को पढ़ा। वे निबन्ध लिखने में बहुत परिश्रम करते थे। जब तक उन्हें अपने निबन्ध से पूर्ण संतोष नहीं हो जाता था, तब तक वे उसे बार-बार लिखते थे, काटते-छाँटते थे, हर तरह से सँवारने का यत्न करते थे। राजनीति, इतिहास, धर्म, संस्कृति, साहित्य सम्बन्धी निबन्ध लिखने के लिए वे खूब पढ़ते थे। सुप्रसिद्ध निबन्ध-लेखक श्री गुलाबराय जी का यह कहना कि मैं उन लोगों में हूँ जो सिवाय अपने निजी निबन्धों के, बिना कुछ पढ़े नहीं लिख सकते। वास्तव में मेरे लिखने में एक तिहाई दूसरे से पढ़ा हुआ होता है।—बख्शी जी पर अक्षरशः घटित होता है।

उनके ही शब्दों में, 'मैंने उस मानसिक स्थिति का अनुभव ही नहीं किया, जिसमें भाव अपने-आप उत्थित हो जाते हैं। मुझे तो सोचना

पड़ता है, परिश्रम करना पड़ता है, तब कहीं मैं एक निबन्ध लिख सकता हूँ।

बख्शी जी के आलोचनात्मक निबन्धों में उनके अध्येता की ज्ञान-गरिमा स्पष्ट परिलक्षित होती है। यही बात उनके सांस्कृतिक निबन्धों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उनके 'मेरा देश' निबन्ध-संकलन में धर्म और संस्कृति की ही विशेष चर्चा है।

बख्शी जी जब अपने निबन्ध में किसी गंभीर विषय की चर्चा करना चाहते, तब वे बहुधा वार्तालाप की शैली अपनाते थे। एक व्यक्ति, एक के बाद एक अपनी जिज्ञासायें प्रकट करता है और बख्शी जी दूसरे व्यक्ति के रूप में स्वयं उनका समाधान करते हैं। इस तरह गूढ़ से गूढ़ विषय, बड़ी से बड़ी साहित्यक गुत्थी को वे बड़ी आसानी से सुलझा देते थे। वे तो वार्तालाप को ही जैसे निबन्ध मानते हैं—अपने साथियों के साथ बैठ कर हम अपने मन के अनुसार राजनीति और ब्रह्म-ज्ञान से लेकर अपने पारिवारिक जीवन की क्षुद्र बातों तक की चर्चा किया करते हैं। निबन्धों की रचना में भी वही कुशलता, वही निपुणता चाहिये जो वार्तालाप में आवश्यक है। निबन्ध की यही अपनी चर्चा उसकी मुख्य विशेषता है। यह व्याख्या नहीं है, कथा नहीं है, वह इतिहास नहीं है, वह सिर्फ एक चर्चा है। लेखक का व्यक्तित्व ही उस चर्चा को हम लोगों के लिए आकर्षक या मनोरम बना देता है।

कलाकार जिस तरह अंत-अंत तक अपनी कलाकृति को मनोवांछित रूप देने के लिए प्राणपण से चेष्टा करता है और उसकी तूलिका चलती ही रहती है, वही स्थिति बख्शी जी की थी। वे निबन्ध-कला के वास्तविक सौन्दर्य के आग्रह में, एक ही निबन्ध अनेक शैलियों में अनेक बार लिखते थे। इसीलिए उन्होंने डायरी और पत्रों के रूप में भी निबन्ध-रचना की है। 'नया समाज' में 'प' नाम से डायरी के रूप में उनके कई लेख प्रकाशित हुए थे जिनमें सभी विषयों की चर्चा है। वही निबन्ध 'बिखरे पन्ने' के नाम से पुस्तक-रूप में प्रकाशित भी हुए हैं। इसी तरह 'मेरे

लिए' शीर्षक से पत्रों के रूप में भी कुछ निबन्ध लिखे थे ।

निबन्ध आधुनिक गद्य का प्रमुख अंग है । विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम निबन्ध ही है । सभी विषयों पर निबन्ध लिखे गये हैं । लेकिन सभी निबन्ध कालजयी नहीं होते और उन सभी को साहित्यिक निधि भी नहीं कहा जा सकता । जिस प्रकार सभी कवि और कथाकार साहित्य के क्षेत्र में अक्षय यश अर्जित नहीं कर पाते, उसी प्रकार सभी निबन्धकार अपना गौरव-पूर्ण स्थान नहीं बना पाते । द्विवेदी-युग में माधवराव सप्रे निबन्धाकाश के महिमामंडित नक्षत्र थे, लेकिन आज तक उनके प्रतिनिधि निबन्धों का एक भी संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ । पं० कामताप्रसाद गुरु वैयाकरण बन कर ही रह गये, उनका निबन्धकार विस्मृति के गर्त में समा गया । पं० ज्वालदत्त शर्मा, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, मावलीप्रसाद श्रीवास्तव और वनमालीप्रसाद शुक्ल को भी लोग भूल गये । स्वयं पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का अब वह महत्व नहीं रहा । बख्शी जी द्विवेदी जी की गौरवमयी देन थे । वे अन्त तक निबन्ध लिखते रहे । लेकिन उन्हें कभी अपने निबन्ध से पूर्ण संतोष नहीं हुआ । हमेशा अपने निबन्धों में संशोधन और परिवर्द्धन कर उन्हें नया रूप देने का यत्न करते थे । वे हिन्दी के ए० जी० गार्डिनर बनना चाहते थे । उनके कुछ निबन्ध अपनी विशिष्ट शैली के कारण हिन्दी-साहित्य की अक्षय निधि हैं, फिर भी उन्होंने अपने निबन्धों में रचना-कौशल एवं वैशिठ्ष्य कभी नहीं देखा । मौलिकता का भी दावा नहीं किया । उन्होंने 'मेरी अपनी कथा' में निष्कपट भाव से आत्म-स्वीकृति में तो यहाँ तक लिखा है—मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं अपनी रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का आदर या प्रतिष्ठा नहीं पा सकता । अपने कर्मों के द्वारा हिन्दी-साहित्य के मंदिर में भले ही आदरणीय स्थान न पाऊँ पर अपने अनुराग के द्वारा मैं उसमें प्रविष्ट अवश्य हो सकता हूँ । विद्या, बुद्धि और ज्ञान में हीन होने पर भी मैं अनुराग में किसी से कम नहीं हूँ ।

कथा-मर्मज्ञ कथा-शिल्पी

◎ *उपन्यासों में अनुभूति के आधार पर जीवन की कैसी भी यथार्थता प्रदर्शित करने का प्रयत्न क्यों न किया जाय, उसमें कल्पना का ही विलास रहता है।*

◎ *कथाओं में जो एक रस है, जो एक अनन्द की अनुभूति है, वह न तो आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है और न वस्तुवाद पर। कथाओं के द्वारा जब लेखक हम को अपने कल्पना के लोक में ले जाकर आत्मा-विस्मृत कर देता है, तब हम उसके कथागत पात्रों के सुख-दुख में लीन हो जाते हैं।*

◎ *उपन्यासों में जो घटनायें आती हैं, भावों का जो उत्थान पतन दिखाया जाता है, उनका एक मात्र लक्ष्य है कि व्यक्ति के चरित्र की दुर्बलता और महत्ता प्रकट हो जाय। आख्यायिकाओं में उनके लिए स्थान नहीं है। उनमें केवल एक भाव को ही प्रस्फुट करने के लिए लेखक दो एक घटनाओं का वर्णन करता है।*

◎ *उपन्यास-रचना के लिए मन की एक स्वच्छंद स्थिति चाहिये, जिसमें आप से आप आनन्द की भावना उत्थित होती है।*

◎ *जो उपन्यास मुझे प्रिय लगता है, उसको मैं बार-बार पढ़ा करता हूँ। ऐसे कितने हो उपन्यास हैं, जिन्हें मैं पचीसों बार पढ़ चुका हूँ। ऐसे उपन्यासों के पात्रों के जीवन से मैं इतना अधिक परिचित हो जाता हूँ कि वे औपन्यासिक पात्र मेरे लिए बिलकुल यथार्थ व्यक्ति हो जाते हैं। मैं कल्पना-जगत में उनके साथ बराबर विचरण किया करता हूँ।*

□□

सन् १९०७। खैरागढ़ के विक्टोरिया हाई स्कूल में, हेडमास्टर पंडित रविशंकर शुक्ल के सामने एक दस-बारह वर्ष का बालक सहमा खड़ा है। शुक्ल जी उससे पूछते हैं—'तुम स्कूल क्यों नहीं आते ?'

—"मैं एक 'टोनही' के कारण स्कूल नहीं आ पाता।

—'मैं तुम्हारी 'टोनही' को बेतों की मार से सदा के लिए भगा दूँगा। हाथ खोलो।'

वह चुपचाप पहले दाहिने हाथ की हथेली पसार देता है—तड़ातड़ तीन बेत। इसके बाद बायीं हथेली पर भी।

इसी बालक का नाम पदुमलाल बख्शी था और वह 'टोनही' थी 'चन्द्रकांता संतति।' बक्शी जी के ही शब्दों में—'अभाग्यवश या सौभाग्य-वश इन दिनों में देवकीनंदन खत्री के मायाजाल में बद्ध हो चुका था। स्कूल के पाठ मुझे अत्यन्त नीरस प्रतीत होते थे। अवसर पाते ही मैं घर से 'चन्द्रकांता संतति' का कोई भाग लेकर भाग जाता था। पर कभी न कभी मैं पकड़ा भी जाता था। तब मैं हेडमास्टर के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। कम-से-कम छः बेतों की सजा तो मुझे अवश्य ही मिलती

थी। उसके बाद क्लास के भीतर भी मैं खूब पिटता था।'—[शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ : पृष्ठ ६१]

इस पिटाई के फलस्वरूप वे नियमित रूप से स्कूल जाने लगे और मन लगा कर पढ़ाई में जुट गये। बख्शी जी के ही शब्दों में, 'मैं तब तक सेवंथ क्लास में पहुँच गया था और मेरी गणना अच्छे लड़कों में होने लगी थी। उन्होंने (शुक्ल जी ने) जब ट्रांसलेशन का पेपर जाँचा तब उसमें मुझे सबसे अधिक मार्क्स् मिले। इस पर उन्होंने फिर मुझे बुला कर कहा—'देखो, तुम्हारी वह चुड़ैल किस तरह भाग गयी।'—(शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ : पृष्ठ ६२]

शुक्ल जी के बाद, सन् १९०९ में श्री मोतीलाल विजयवर्गीय हेड मास्टर होकर आये। बक्शी जी तब नवमों कक्षा के छात्र थे। विजयवर्गीय जी साहित्यानुरागी थे। उनका 'सावित्री का पातिव्रत' शीर्षक लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़ कर बख्शी जी को लिखते की प्रेरणा मिली—'उस लेख को पढ़ कर मैंने भी हिन्दी में लेख लिखने का विचार किया। उस समय जबलपुर की 'हितकारिणी' पत्रिका हम लोगों के स्कूल में बड़ी लोकप्रिय हो गयी थी। मैंने सन् १९११ में पहली बार एक 'भाग्य' शीर्षक कहानी लिख कर हितकारिणी में भेजी। वह एक अँग्रेजी कहानी के आधार पर लिखी थी। वह प्रकाशित भी हो गयी।' [जिन्हें नहीं भूलूँगा : पृष्ठ ४९]

इस प्रकार बक्शी जी ने एक कथाकार के रूप में साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। अनेक कहानियाँ लिखीं, अनेक बँगला और अँग्रेजी कहानियों के अनुवाद किये। उन्होंने स्वयं को कभी कथाकार अथवा कथा-मर्मज्ञ नहीं माना, कथा-साहित्य का एक प्रेमी पाठक ही मानते रहे! बचपन में जो 'टोनही' उनके पीछे लग गयी थी, उसकी गिरफ्त में वे अन्त तक फँसे रहे—'मैं उपन्यासों का बड़ा प्रेमी पाठक हूँ। मैं हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी श्रेष्ठ उपन्यास पढ़ चुका हूँ। खत्री जी से लेकर फणीश्वरनाथ

रेणु तक प्रायः सभी पुराने-नये लेखकों के उपन्यास पढ़ चुका हूँ।—[जिन्हें नहीं भूलँगा : पृष्ठ ७]

बख्शी जी ने सन् १९१६ में बी० ए० पास करने के बाद ही मौलिक कहानियाँ लिखीं, जिनका संग्रह हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर से 'झलमला' के रूप में सन् १९३५ के आसपास प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व प्रेमचन्दजी ने हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियों का एक संग्रह 'गल्प-रत्न' नाम से सरस्वती प्रेस, काशी, से प्रकाशित किया था। जिसके सम्पादक और संग्रहकर्ता वे स्वयँ थे। इस संग्रह में उन्होंने बख्शी जी की 'कमलावती' नामक कहानी दी थी। लेकिन वह उनकी मौलिक कहानी नहीं थी। यह रहस्योद्घाटन स्वयं बख्शी जी ने बाद में किया था। ऐसी भूल प्रेमचन्द जी से ही नहीं, अनेक साहित्य-मनीषियों से हुई है। इसका कारण यह था कि बख्शी जी ने कभी किसी कहानी का अक्षरशः अनुवाद नहीं किया। वे मर्मानुवाद करते थे। अनूदित कृति में भी मौलिक कृति जैसी सजीवता ला देते थे।

एक समीक्षक ने ठीक ही लिखा हैं—'जीवन की हर छोटी-सी घटना बख्शी जी की लेखनी का स्पर्श पाकर कहानी बन जाती है। पारखी आँखें घटनाओं की धूल में से अपना हीरा खोज लेती हैं।' बख्शी जी को कहानी लिखने के लिए कभी किसी प्लाट को तलाश नहीं रही। वे साधारण से साधारण घटना को कथा का रूप देकर कोई ऐसा चरित्र निर्मित कर देते, जो हमें अपने आसपास का ही ज्ञात होता था। जिसके आनन्द से हमें आज भी आनन्दाभूति प्राप्त होती है और जिसके अपार दुःख को लेकर हम आज भी दुःख के सागर में डूबने-उतराने लगते हैं। उनकी कहानियों में उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद, सुख-दुख, राग-द्वेष की सहज मनःस्थितियों का ऐसा स्वाभाविक चित्रण है कि पाठक कुछ क्षणों के लिए स्वयँ कहानी के पात्रों का सहयात्री बन जाता है। उसे कहानी स्वयँ की आपबीती सत्य घटना-सी लगने लगती है। उनकी कहानियों में सूक्ष्म अनुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति ही प्रधान है। वे कहानी के माध्यम से जीवन

के किसी न किसी सत्य को ही अपनी रचना के माध्यम से उद्घाटित करते थे। डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने बख्शी जी की कहानी-कला का वश्ले षण करते हुए, 'मध्यप्रदेश के कहानीकार' शीर्षक लेख में ठीक ही लिखा है--'बख्शी जी की प्रत्येक कहानी किसी न किसी तथ्य के समर्थन के लिए है, चाहे वह तथ्य प्रारम्भ में उद्घाटित कर लिया गया हो चाहे अन्त में। वे कहानी के लिए कहानी नहीं कहते या कह नहीं पाते। कहानियों के बीच-बीच में वे अपनी मान्यताओं की सविस्तार चर्चा करते नहीं हिचकते, इसीलिए कभी-कभी कहानी के भीतर एक साथ लगातार छोटा-मोटा निबन्ध ही लिख जाते हैं। बख्शी जी की कहानियाँ, ऐसा लगता है जैसे घटित घटनाओं के ही साहित्यिक संस्करण हों। उनमें उनकी निजी चर्चा भी बहुत है। शायद ही किसी अन्य कहानीकार ने अपने सम्बन्ध की तथा अपने पास-पड़ोस के वातावरण की चर्चा कहानी के भीतर इतनी जधिक की हो।..... बख्शी जी के चिन्तन के समान उनकी शैली भी बड़ी सरल, स्पष्ट और मधुर है--द्विवेदीयुगीन।--[शुक्ल अभिनन्दन ग्रंथ : पृष्ठ ९१]

आज हिन्दी-कहानी कथ्य, शिल्प और भाषा तीनों दृष्टियों से प्रेमचन्द-युग को बहुत पीछे छोड़ आयी है। जीवन-मूल्यों के साथ साहित्य की मान्यतायें भी बदलती हैं। कहानी के सम्बन्ध में बख्शी जी की जो मान्यतायें थीं, उनमें से कुछ तो एकदम बदल गयी हैं। जैसे उनका यह मत कि 'कल्पना कहानी का मूल तत्त्व है, ऐसी कल्पना जो पाठक को समरस कर उसे अपने साथ भ्रमण कराये, हँसाये और रुलाये।' इसका आज के कहानीकार के लिए कोई महत्व नहीं रहा। लेकिन उनका यह कथन कि, 'लेखक आख्यायिका में वाह्य-जगत को लेकर व्यस्त नहीं रहता। वह तो अपनी सूक्ष्म दृष्टि से अन्तर्जगत का दृश्य देखता है। संसार की घटनाओं में कब, कैसे और कौन भाव मनुष्य को परिचालित करता हैं, वह इसी को स्पष्ट कर देता है।'—आज के कहानीकार की

सूक्ष्म अन्तर्गामिनी दृष्टि पर ही प्रकाश डालता है।

बख्शी जी का मात्र एक कहानी-संग्रह ही प्रकाशित हुआ। उनकी कुछ कहानियाँ 'पंचपात्र' में भी संकलित हैं। अधिकांश कहानियाँ पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सकीं। धीरे-धीरे उनका लेखन निबन्ध-रचना में ही केन्द्रित हो गया था। बाद-बाद में तो वे यह कहने लगे थे कि मैंने कभी कोई कहानी लिखी ही नहीं। मेरी सभी गद्य-रचनायें निबन्ध ही हैं। मैं हिन्दी का ए० जी० गार्डिनर बनना चाहता था, किन्तु कहाँ बन पाया! बहुत कुछ यही बात दूसरे शब्दों में उन्होंने एक जगह स्वीकारी भी है—'कुछ ऐसे भी निबन्ध होते हैं, जिनमें हम अपने जीवन की कुछ विशेष बातों का वर्णन करते हैं। ऐसे निबन्धों में कहानी का तत्व आ जाता है। बंकिम बाबू और रवीन्द्र बाबू के कितने ही निबन्धों में कहानी का तत्व है। गार्डिनर के कुछ निबन्धों में तो मैं कहानी का विशुद्ध तत्व पाता हूँ। उनमें जीवन की मार्मिक घटनाओं का वर्णन होता है। मैंने भी कुछ ऐसे निबन्ध लिखे हैं, जो कहानियों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।'

—[मेरे प्रिय निबन्ध : पृष्ठ ३]

बख्शी जी स्वयं को भले ही कथाकार न मानते रहे हों, समीक्षकों की दृष्टि में भी उनकी कहानियाँ निबन्ध ही हों, किन्तु उन्होंने कहानी-साहित्य को समृद्ध करने में अविस्मरणीय योग-दान दिया। साहित्य के मर्मज्ञ होने के नाते वे अच्छी और बुरी कहानी के कुशल पारखी भी थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में जहाँ एक ओर उन्होंने श्री सुमित्रानन्दन पंत की कवितायें प्रकाशित कर द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक काव्य को छायावादी काव्य का परिधान पहनाया, वहाँ दूसरी ओर प्रेमचन्द, सुदर्शन, इलाचन्द्र जोशी आदि की कहानियाँ छाप कर हिन्दी-कहानी का पथ प्रशस्त किया। इलाचन्द्र जोशी की पहली कहानी 'परदेशी' बख्शी जी ने ही 'सरस्वती' में प्रकाशित की थी। उन्होंने कथा-साहित्य में वैविध्य लाने के लिए अनेक नये लेखकों से भी कहानियाँ लिखायी थीं। उनके ही शब्दों में, 'कथा-

साहित्य में विशेष अनुराग होने के कारण मैंने उसमें भाव-वैचित्र्य लाने के लिए अपने सम्पादन-काल में यथेष्ट परिश्रम किया। प्रेम की सस्ती भावुकतापूर्ण कहानियों को मैंने कभी महत्व नहीं दिया। मैंने नये लेखकों से नये ढंग की कहानियाँ लिखवाने का प्रयत्न किया। मैंने उनसे विदेशी कहानियों के अनुवाद भी कराये और विदेशी कहानियों के आधार पर नयी कहानियाँ भी लिखवायीं।

—[मेरी अपनी कथा : पृष्ठ १०]

बख्शी जी जीवन भर कथा-साहित्य के माया-लोक में विचरण करते रहे इसीलिए उन्हें पारदर्शी दृष्टि प्राप्त हुई। उनके आधे से अधिक लेखन में कथा-साहित्य की ही चर्चा है। 'हिन्दी-कथा-साहित्य' में उन्होंने उपन्यास एवं कहानी-लेखन के सभी अंगों की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक विवेचना की है, साथ ही अपने अलग मापदंड और मूल्य भी निर्धारित किये हैं। किसी भी औपन्यासिक कृति की आत्मा से साक्षात्कार करने के बाद ही वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे—बिना किसी लाग-लपेट के। उनके मतानुसार, 'वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समन्वय हो गया हो। 'प्लाट' वही अच्छा होगा, जिसमें कुछ चमत्कार होगा, कुछ नवीनता होगी, जिसमें प्रतिपादित विषय पर किसी ऐसे नये पहलू से प्रकाश डाला जाये, जिससे कि वह विषय अधिक आकर्षक, अधिक मनोरम तथा अधिक प्रभावोत्पादक हो जाय। लेखक की प्रतिभा तथा लेखन की कला उसी पहलू को ढूँढ़ निकालने पर है। अब रहा चरित्र-चित्रण, तो उसमें भी प्रतिभाशाली लेखक नवीनता तथा अनोखापन ला सकता है। नित्य जो चरित्र देखने को मिलते हैं, उन चरित्रों से भिन्न कोई ऐसा चरित्र उत्पन्न करना, जिसे देख कर विज्ञ पाठक फड़क उठें। उनके हृदय में यह बात,पैदा हो कि मनुष्य-चरित्र के सम्बन्ध में उन्हें कोई नयी बात मालूम हुई, यही चरित्र-चित्रण की कला है।''

—[जिन्हें नहीं भूलूँगा : पृष्ठ ६०]

उनकी इस कसौटी पर जो उपन्यास खरे उतरते थे, उन्हें एक बार पढ़ चुकने के बाद दुबारा पढ़ने में भी वे आनन्द प्राप्त करते थे। किसी उपन्यास में रम जाने पर सुध-बुध खो बैठते थे। एक बार कालेज में शंकर का 'चौरंगी' उनके हाथ लग गया। वे उसे पढ़ने में ऐसे निमग्न हो गये कि क्लॉस लेने तक का ध्यान न रहा। पीरिएड पर पीरिएड बीतते गये और वे कॉमन रूम में बैठे उपन्यास ही पढ़ते रहे। कथा के मायालोक में खो जाने की ऐसी अनेक घटनायें उनके जीवन से जुड़ी हैं। गिरीश बख्शी ने इस संदर्भ की एक और मार्मिक घटना का उल्लेख करते हुए अपने एक लेख में लिखा है :—'किसी छुट्टी की दोपहरी में मैं उन्हें विमल मित्र का 'मन क्यों उदास है' पढ़ कर सुना रहा था। उसी समय अपनी ससुराल से उनकी पौत्री नलिनी आयी। मैंने तब पढ़ना बंद कर दिया था और मास्टर जी (बख्शी जी) ने कहा था, 'पढ़ो-पढ़ो, सुरेश्वरी दीदी और उसके श्वसुर का कैसा हृदयस्पर्शी वर्णन किया है।' मैं पढ़ने लगा था। नलिनी कुछ देर बाद जब जाने लगी तो वह बोली, 'मास्टर जी, मैं अब जा रही हूँ।' मास्टर जी तब उससे बोले, 'नलिनी, मैं कल तुमसे बातें करूँगा। अभी तो यह उपन्यास सुन रहा हूँ। बड़ा अच्छा लग रहा है। हाँ तो फिर···।' हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में उन्हें 'सेवा-सदन', 'मनुष्य का रूप', 'भूले-बिसरे चित्र', 'शेखर' बहुत प्रिय थे। इन्हें उन्होंने बड़ी तन्मयता से अनेक बार पढ़ा था।

बख्शी जी अपने प्रिय उपन्यासों के अनेक पात्रों को यथार्थ जीवन का साथी बना लेते थे और स्वयं उनके सहचर बन जाते थे। 'मन के मनुष्य' शीर्षक अपने एक लेख में उन्होंने लिखा हैं—'आसिता मेरे कल्पना-लोक की चिरन्तन नायिका है। मैं वृद्ध हो गया हूँ पर असिता के लिए वृद्धावस्था नहीं है। बाल्यावस्था में मैंने उसमें जो तारुण्य देखा, वह उसमें अभी तक विद्यमान है। यह सच है कि अवस्था की वृद्धि के साथ मैंने उसको भिन्न-भिन्न रूप में देखा। जब मैं देवकीनंदन खत्री के मायालोक में विचरण कर

रहा था, तब वह मेरे लिए कमलिनी थी । मैं सोचता था कि वह चण्डूल बन कर किसी मायारानी के राज-भवन में प्रविष्ट हो और मैं उसके पीछे-पीछे भैरोसिंह बन कर जाऊँ । फिर मैंने उसको गोपाल गहमरी के जासूस गोविन्दराम की अनुगामिनी के रूप में देखा । उस समय मैंने उसमें एक विलक्षण प्रतिभा देखी । उसके साथ मैंने एक 'चक्करदार चोरी' का पता लगाया । फिर वह मेरे लिए बंकिम बाबू की शाहजादी आयशा हो गयी । कुछ समय बाद वह शरद बाबू की कमल हो गयी । नारी-जीवन के सम्बन्ध में मैंने उससे चर्चा की । नारी के प्रेम और वासना के सम्बन्ध में उससे विवाद हुआ । उस विवाद में मैं निरुत्तर हो गया । अब वृद्धावस्था में मैं उसको 'वनफूल' के 'भुवन सोम' की बिन्दिया के रूप में देखने लगा हूँ । उसमें वही स्वच्छन्दता, निर्भीकता, सरलता और विनोद-प्रियता के साथ स्नेह का विशुद्ध भाव है ।''

यदि बख्शी जी को किसी प्रसिद्ध लेखक की किसी कथा-कृति में कहीं कोई विसंगति दिखायी देती अथवा कोई कमी खटकती तो वे झुँझला उठते थे । उन्होंने हिन्दी के प्रतिनिधि कथाकारों की ऐसी रचनाओं की आलोचना ही नहीं की, स्वयं कथा-गुरु के रूप में एक लेख-माला ही लिख डाली—'यदि मैं लिखता ।' इसमें उन्होंने प्रेमचन्द की 'अमावस्या की रात्रि', जैनेन्द्रकुमार की 'जाह्नवी' और भगवतीचरण वर्मा की 'चूसी गड़ेरी' को तो अपने ढंग से लिखा भी था, जो उनकी 'मेरे प्रिय निबन्ध' पुस्तक में संकलित हैं । 'चन्द्रकांता संतति', 'मृगनयनी' और 'इन्दुमती' उपन्यासों के उन स्थलों की भी उन्होंने विशद चर्चा की है, जो उन्हें असंगत प्रतीत हुए ।

प्रारम्भ से बख्शी जी की हार्दिक इच्छा थी कि वे कोई उपन्यास लिखें। उन्होंने अनेक बार यत्न भी किया । ७७ वर्ष के हो जाने पर भी उन्होंने 'भुवन सोम' पढ़ कर उसी ढंग का उपन्यास लिखने का निश्चय किया । सौ पृष्ठ लिख भी डाले, लेकिन उससे उन्हें सन्तोष नहीं था । यह उन्होंने

मुझे अपने एक पत्र में लिखा भी था । वे उसे दुबारा लिखना चाहते थे । उसका उन्होंने नामकरण भी कर दिया था—'दिवस का अन्त ।' कौन जानता था कि उनकी जीवन-लीला का ही अन्त होने वाला है । उपन्यास अधूरा ही रह गया । विमल मित्र के 'साहब बीबी गुलाम' को पढ़ने के बाद उन्होंने राजनाँदगाँव के राज-घराने पर उपन्यास लिखने की योजना बनायी थी । सारे तथ्य भी लिख डाले थे लेकिन वह भी नहीं लिखा जा सका । सन् १९११ में साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद, सर्वप्रथम रामजीदास वैश्य का 'फूल में कांटा' पढ़ कर उनमें उपन्यास लिखने की लालसा जागृत हुई थी । चर्चा के दौरान वे बड़े दर्प के साथ कहते थे—'यह बात नहीं है कि मैंने उपन्यास के योग्य कोई कथानक नहीं सोचा । मैं अभी तक अपने मन में कितने ही उपन्यास गढ़ चुका हूँ, परन्तु उन्हें मैं भाषाबद्ध नहीं कर सका ।'

'कथा-चक्र' नामक उपन्यास उन्होंने अवश्य लिखा जो दो-एक विश्व-विद्यालयों में बी० ए० के पाठ्यक्रम में भी रहा । यह हिन्दी में अपने ढंग का एक अभिनव प्रयोग था । इसे वे समालोचनात्मक उपन्यास कहते थे । इसमें स्वयं उपन्यासकार अपनी उपन्यास-कला पर अपने विचार प्रकट कर कथा को आगे बढ़ाता है । इसकी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में, भूमिका में उन्होंने लिखा है—'अम्बिकादत्त व्यास से लेकर अज्ञेयजी तक कथा-साहित्य का एक दीर्घ काल मैं स्वयँ अतिक्रमण कर चुका हूँ । सभी तरह की रचनायें पढ़ कर मेरे मन में कौतूहल का यह भाव उत्पन्न हुआ कि यदि व्यास जी से लेकर अज्ञेय जी तक जो प्रमुख उपन्यासकार हुए, वे लोग मिल कर कोई एक कथा लिखते तो वह कैसी कथा होती ? बंग-भाषा में बारह लेखकों ने मिल कर एक ऐसा उपन्यास लिखा भी है । जो बात यथार्थ जगत में असम्भव है; वह कल्पना-जगत में सम्भव है । यदि डॉक्टर नगेन्द्र मृत और जीवित साहित्यकारों को एक स्थान में निमंत्रित कर उनसे कथा-साहित्य की विशेषता पूछ सकते हैं तो मैं उनसे

कहानी भी कहला सकता हूँ ।'

'कथा-चक्र' में अम्बिकादत्त व्यास, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, विश्वम्भरनाथ कौशिक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय से कहानी कहलायी गयी है, जो उनके ही किसी उपन्यास के आधार पर आगे बढ़ती है। नये संस्करण में बख्शी जी कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव को भी कथा-चक्र में फँसाना चाहते थे, लेकिन वे यह नहीं कर पाये। मनुष्य की सभी इच्छायें पूरी भी तो नहीं होतीं।

'उपक्रम' और 'उपसंहार' में कथा-साहित्य के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत विवेचना है। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों की नवीनता एवं विशेषता की ओर संकेत करते हुए, बख्शी जी ने उपसंहार में लिखा है—'वैज्ञानिक दृष्टि से भी जीवन की यथार्थ परीक्षा की जाने लगी। मनोविज्ञान के साथ मनुष्यों की सूक्ष्म से सूक्ष्म, जटिल भाव-धाराओं का विश्लेषण होने लगा। चरित्र के उत्कर्ष अथवा हीनता के स्थान में विभिन्न भावों का अन्तर्द्वन्द्व बड़ी कुशलता से व्यक्त किया गया। घटनाओं की अपेक्षा भावों को अंकित करने के इस प्रयास में मनुष्यों के अन्तर्जगत के रहस्यों की ओर सब लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। सब से अधिक रहस्यमय एक व्यक्ति का ही जीवन हो गया। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती गयी, प्रजातंत्र का विकास होता गया, समाजवाद बढ़ता गया, त्यों-त्यों साहित्य में व्यक्तित्व की विशेषता भी परिलक्षित होती गयी। मनुष्यों की उच्च अथवा नीच प्रवृत्तियों, वासनाओं और कृत्यों में ही व्यक्तित्व का विकास प्रदर्शित कर उसमें एक विलक्षण महिमा की अनुभूति होने लगी। 'सु' और 'कु' के सम्बन्ध में लोगों की जो निश्चित धारणायें थीं, उन पर आघात होने लगा। मनुष्यों की अहं वृत्ति ने साहित्य में अपने लिए एक विशेष स्थान बना लिया।'

•

कवि भी थे

•

- कविता विशुद्ध आनन्द की सृष्टि है ।
- कविता गेय होने पर भी गान नहीं है ।
- अच्छी कविता स्वयं हृदय पर आघात करती है । उसके लिये लम्बी-चौड़ी भूमिका की आवश्यकता नहीं होती ।
- सच्चा कवि अपने लिए अन्तर्जगत में ही पथ खोज लेता है ।
- कवित्व-कला में जिस रस की सृष्टि कवि करता है, उसे वह कहीं से मांग-जाँच कर नहीं लाता, उसे वह अपने भीतर से ही प्राप्त होता है ।
- कविता हृदय का स्पन्दन है, उद्वेग है, अभिलाषा है । वह अन्तर्जगत की भाषा है ।
- कवित्व शक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है । उसके लिए प्रतिभा की एक असाधारणता चाहिए ।
- कवि अपनी सच्ची अनुभूति को सच्चे ढंग से प्रकट करे ।
- कवित्व का बीज कवि के स्वभाव में ही लक्षित होता है ।
- मानव-मन की ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है, जो काव्य में रस का रूप न ले सके ।
- जरा और मृत्यु का प्रभाव शरीर पर ही पड़ता है, कवि के हृदय पर नहीं ।
- कविता में यदि हृदय का सच्चा भाव-सौन्दर्य परिस्फुटित हुआ हैं तों वह चिर नवीन रहती है ।

□□

अन्य साहित्यकारों की भाँति, बख्शी जी ने भी कवि के रूप में साहित्य-जगत में पदार्पण किया था । उनके पिता, पितामह, प्रपितामह भी कवि थे । प्रपितामह श्री उमराव बख्शी तो छत्तीसगढ़ के सुप्रसिद्ध कवि थे । इसलिए उनका कवि होना कोई 'एक्सीडेन्ट' नहीं था—काव्य-लक्ष्मी उन्हें पैतृक-सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी ।

बख्शी जी की प्रारम्भिक पद्य-रचनायें 'हितकारिणी' में प्रकाशित हुईं । उनमें सहज कविता नहीं है, प्रयास की सफलता अवश्य है । पद्य और काव्य में भेद है । पद्य में प्राणों का आवेग नहीं होता, भावों का उद्वेग नहीं होता, कला का सौष्ठव भी नहीं होता । किसी भी विषय को पद्य-बद्ध किया जा सकता है । कविता का जन्म अन्तःस्फूर्ति से होता है । आत्मानुभूति की सच्ची अभिव्यक्ति ही कविता है । एकमात्र बुद्धि के ही प्रयास से कविता नहीं लिखी जा सकती । उसके लिये भाव का भी स्फुरण होना चाहिए । इतना ही नहीं, बख्शी के शब्दों में, 'कवि स्वच्छन्द होता है । वह स्वान्तः सुखाय ही कविता की रचना करता है । उससे यदि संसार का कल्याण होता है तो यह संसार के लिए अच्छी बात है । उससे यदि लोगों की मनस्तुष्टि होती है तो कृतज्ञ होकर वे उसे साग्रह अपना

लें, पर कवि अपने ही में लीन रहता है। यही नहीं, वह अपनी रचना के आनन्द में अपने को भूल भी जाता है।'

बँगला-उपन्यासों के अनुवादों से बख्शी जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बँगला-भाषा सीखने का दृढ़ संकल्प कर लिया। जब मैट्रि-कुलैशन की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर उन्हें सेंट्रल कालेज, काशी, में अध्ययन के लिए भेजा गया, तब वहाँ श्री पारसनाथ सिंह से उनकी प्रगाढ़ मैत्री हो गयी। श्री पारसनाथ सिंह का बँगला-भाषा पर अधिकार ही नहीं था, वे मूल बँगला से हिन्दी में अनुवाद भी करते थे। उनसे उन्होंने बँगला सीख ली और कुछ ही दिनों के अभ्यास से सफलतापूर्वक बँगला की श्रेष्ठ कृतियों का रसोपभोग करने लगे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'कणिका' की लघु-कवितायें पढ़ने के बाद, उनके मन में उसी तरह की कवितायें लिखने की तीव्र लालसा उदित हुई। उस समय उन्होंने जो कवितायें लिखीं, उनकी भाव-भूमि और शैली 'सरस्वती' की पूर्ववर्ती कविताओं से एकदम भिन्न थी। भाषा में भी कर्कशता नहीं थी। जब द्विवेदी जी के पास उनकी कविता पहुँची तो उसे पढ़कर वे मुग्ध हो गये और अपने सहकारी पं० देवीदत्त शुक्ल से बोले—'यह लेखक किसी दिन हिन्दी-साहित्य में निश्चित रूप से गौरव प्राप्त करेगा।' उनकी भविष्य-वाणी अक्षरशः सही निकली। कवि के रूप में न सही; आगे चल कर निबन्धकार के रूप में उन्होंने गौरव ही प्राप्त नहीं किया, एक विशिष्ठ शैलीकार के रूप में भी यथेष्ट कीर्ति अर्जित की।

कविता के सम्बन्ध में द्विवेदीजी का जो आदर्श था, उसे उन्होंने एक पत्र के रूप में प्रकट किया है। यह पत्र श्री मैथिलीशरण गुप्त को लिखा गया था—'एक बात का विचार रखियेगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हों। सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक-से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए, जो सबके मनोविकारों को उत्तेजित करे—देश-काल से मर्यादाबद्ध न हो।' उनके काव्यादर्शों

और मान्यताओं के चौखटे में बख्शी जी की कवितायें 'फिट' नहीं बैठती थीं। फिर भी उन्होंने उन्हें पसन्द किया था। बख्शी जी के काव्य-जगत की एक झलक उनकी निम्नलिखित कविता से सहज प्राप्त हो जाती है—

तमोमय था सारा ससार,
आ गये कैसे करुणागार।
तड़ित करती थी उग्र विलास,
मेघ देता था जग को त्रास,
प्रकृति लेती थी दारुण श्वास,
जगत करता था हाहाकार,
आ गये कैसे करुणागार।
नदी बहती कर निर्जन घोर,
प्रबल मारुत देता झकझोर,
तरंगें लेतीं चण्ड हिलोर,
हुए तम में तुम कैसे पार,
आ गये कैसे करुणागार।
नहीं यह गगन-स्पर्शी धाम,
दीप्तिमय रत्नों से अभिराम,
जहाँ प्रभु ले सकते विश्राम,
दैन्य-दुःख छाया यहाँ अपार,
आ गये कैसे करुणागार।
रुद्ध था कारागृह का द्वार,
हृदय में लेकर चिन्ता-भार,
त्रस्त बैठा था किसी प्रकार,
नहीं था यहाँ वायु-संचार,
आ गये कैसे करुणागार।
तुम्हारा सहसा हुआ प्रवेश,

देख कर अपना कुत्सित वेश,
मुझे अब होता है अति क्लेश,
किन्तु तुम तो हो नाथ उदार,
तभी तो आये करुणागार।

इस तरह की कवितायें बख्शी जी ने सन् १९१६ से लिखना आरम्भ किया था। वे सन् १९२० तक बराबर काव्य-रचना एवं कहानी-लेखन में संलग्न रहे। उनका अधिकांश कल्पना-प्रसूत साहित्य इन्हीं चार-पाँच वर्षों में निर्मित हुआ। सन् १९२० में 'सरस्वती' से सम्बद्ध हो जाने पर वे मुख्य रूप से निबन्ध-लेखक हो गये। उनकी कवितायें अधिक नहीं हैं। एक ही तो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है—'शतदल।' 'अश्रु-दल' एक शोक-काव्य और है, जो एक आहत-हृदय की रचना है। श्री दिलीपसिंह उनके अभिन्न मित्र ही नहीं, परम आत्मीय भी थे। उनकी असामयिक मृत्यु से वे इतने दुखी हुए कि शोकद्गार अपने-आप छंदों में निबद्ध हो गये।

बख्शी जी के काव्य पर एक दार्शनिक एवं चिंतक की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है। मध्यप्रदेश के प्रतिनिधि कवियों की कविताओं का संग्रह 'नक्षत्र' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसके सम्पादक श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह ने बख्शी जी के काव्य पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है—'अध्ययन और मननशीलता किस प्रकार एक भावुक हृदय को कवि बना देती है, इसका प्रमाण श्री बख्शी जी के व्यक्तित्व में है। बख्शी जी ने अपनी प्रतिभा से अनेक साहित्यों से अर्जित भाव-सम्पत्ति को बड़े सहज ढंग से कविता का रूप दे दिया है। सच्चे अर्थों में वे एक दार्शनिक रसिक हैं।···अधिक विचारशील और विश्लेषक प्रवृत्ति के कारण बख्शी जी काव्य-क्षेत्र को अधिक सम्पन्न नहीं कर सके। तथापि यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनकी कविता प्रौढ़, गम्भीर और भावमयी है।'

बख्शी जी की कविता को विशुद्ध आनन्द की सृष्टि मानते थे। उनका

स्पष्ट मत था कि कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है। उसके लिए प्रतिभा की एक असाधारणता चाहिए। इसीलिए उन्होंने कवि होने का कभी दावा नहीं किया। अनेक बार कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद की शोभा बढ़ायी, किन्तु स्वयं कभी काव्य-पाठ नहीं किया। जीवन में केवल एक बार उन्होंने कवि-सम्मेलन में अपनी कविता पढ़ी थी। उस समय वे किस तरह घबरा गये थे, इसका जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा है—'एक बार जब मुझे कवि के रूप में कवि-सम्मेलन में सम्मिलित होना पड़ा था, तब मेरी जो मानसिक अवस्था हुई थी, उसे मैं अभी तक नहीं भूल सका हूँ। उन दिनों डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र रायगढ़ के दीवान थे। मिश्रजी स्वयं सुकवि हैं और छत्तीसगढ़ में हिन्दी-साहित्य के सच्चे उन्नायक हैं। वे जहाँ-जहाँ रहे, वहाँ-वहाँ उन्होंने हिन्दी-साहित्य के निर्माण के अनुकूल वातावरण निर्मित किया। उनके संरक्षण में सभी तरह के लेखकों को प्रोत्साहन मिला। मुझ पर उनकी सदैव कृपा-दृष्टि रही है, इसीलिए मैं उनका आदेश पा कर रायगढ़ गया। वहाँ कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उसके सभापति सनेही जी थे। वहीं मैंने सनेही जी को सबसे पहली बार देखा। उनके साथ दो-तीन कवि और भी आये थे। उन दिनों डायरी के रूप में, मैं भी पद्य लिखा करता था। उन्हीं में से कुछ पद्यों को मैंने वहाँ सुनाया। कविता सुनाना बड़ा कठिन काम है, यह मैंने तब जाना। मैं तो बिलकुल काँप गया था, मेरे मुँह से शब्द भी साफ नहीं निकले थे। मैं अच्छी तरह कह सकता हूँ कि मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा उन पद्यों को नहीं सुन सका होगा। उसके बाद भी कई बार अपनी इच्छा के विरुद्ध कवि-सम्मेलनों में मुझे सम्मिलित होना पड़ा, पर फिर मैंने कोई कविता नहीं पढ़ी।'—[जिन्हें नहीं भूलूँगा : पृष्ठ ९७]

बख्शी जी को भले ही अपनी कवित्व-शक्ति पर विश्वास न रहा हो, लेकिन उनकी कुछ कविताओं का ऐतिहासिक महत्व तो है ही। वे प्रति-दिन कोई-न-कोई पद्य अवश्य लिखते थे। यदि उनका संग्रह प्रकाशित हो

तो उसका अपना अलग महत्व होगा । उनकी दृष्टि में गद्य-रचना के लिए पद्य-रचना अत्यन्त आवश्यक है । इस संदर्भ में उनका मत विचारणीय है—'पद्य-रचना के अभ्यास से भाषा पर अधिकार हो जाता है, उससे शब्दों की शक्ति विदित हो जाती है, उससे हम अपने भावों को संयत और अलंकृत करने की भी शिक्षा पाते हैं । कम शब्दों में अधिक भाव अभिव्यक्त करने की कला गद्य के लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी पद्य के लिए । इन्हीं कारणों से कवित्व-गुण न रहने पर भी मैं अपनी पद्य-रचना का अभ्यास नहीं छोड़ना चाहता । मैं लेख भले ही न लिखूँ पर पद्य अवश्य लिखता हूँ । दैनिक जीवन की कोई भी बात मेरे लिए कविता का विषय बन जाती है । मन की विभिन्न स्थितियों और सभी क्षुद्रताओं को प्रकट करने का वही एक साधन है मेरे पास । यह सच है कि उन पद्यों को लेकर मैं कवियों की पंक्ति में बैठने का साहस कभी नहीं करता ।' उनका यह कथन भी ध्यान देने योग्य है—'छंद कवित्व-कला के लिए अत्यन्त आवश्यक है । पर यह भी सच है कि सभी छंदोबद्ध रचनाओं को हम कविता नहीं कह सकते । अब कविता गद्यात्मक हो सकती है और पद्यात्मक भी । इसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि कविता न तो गद्य ही है और न पद्य ।'

•

अंतरंग बातचीत

•

१ : सभी लेखक हो जायेंगे तो पाठक कौन होगा ?

२ : मात्र लोकरुचि ही साहित्य की कसौटी नहीं हो सकती !

⊙ *उपन्यास कल्पना की सृष्टि है। उस कल्पना को सच्ची प्रेरणा मिलती है तारुण्य के उल्लास में। तरुणावस्था में ही यह संसार रहस्यमय प्रतीत होता है।*

⊙ *जब तक कोई साहित्यकार साहित्य के क्षेत्र में संघर्षमय जीवन व्यतीत करता है, तभी तक उसकी रचना में एक ओज विद्यमान रहता है। ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच जाने के बाद अधिकांश की रचना-शक्ति क्षीण हो गयी है।*

⊙ *जिस दिन किसी को संसार की यथार्थता का ज्ञान हो जाता है, उस दिन आप से आप कल्पना का मायालोक विनष्ट हो जाता है।*

⊙ *सच्चा उपन्यासकार आजीवन तरुण बना रहता है। संसार उसके लिए सदैव मायालोक रहता है।*

⊙ *सचमुच सभी औपन्यासिक पात्र हम लोगों के अपने-अपने मन के मनुष्य हैं। यथार्थ व्यक्तियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मन की इस कृतित्व-शक्ति में ही कला की कुशलता है!*

⊙ *यदि सभी लेखक हो जायेंगे तो पाठक कौन होगा?*

⊙ *सत्य की परीक्षा सदैव होती रहनी चाहिए। उसी के द्वारा नीति, धर्म, समाज की मर्यादा और सभी में जो अकल्याणकर तत्व हैं, वे अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो जाते हैं।*

⊙ *जैसे शिक्षक प्राचीन युग के गुरुओं की प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार वर्तमान युग के साहित्यकार, साहित्य-साधना के श्रेष्ठ गौरव के पात्र नहीं होते।*

१

एक बार बख्शी जी से भेंट होने पर मैंने उनसे कहा—मास्टर जी, अब आप एक उपन्यास लिख डालिये। मैं स्वयं उसे प्रकाशित करूँगा। वे जोर से हँस पड़े। बोले—"भाई, अब मेरी उपन्यास लिखने की अवस्था नहीं रही। क्या तुम समझते हो कि सभी अवस्थाओं में उपन्यास लिखे जा सकते हैं?" मैंने कहा—"क्यों नहीं? जो श्रेष्ठ साहित्यकार हैं, उन्होंने अपनी वृद्धावस्था में भी अच्छे उपन्यासों की रचना की है। मेरी तो यह धारणा है कि जीवन का यथेष्ट अनुभव हो जाने के बाद ही उपन्यास लिखना चाहिए। उसमें जीवन की यथार्थता रहती है।"

उन्होंने उत्तर दिया—"यह तुम्हारा भ्रम है। उपन्यास कल्पना की सृष्टि है। उस कल्पना को सच्ची प्रेरणा मिलती है तारुण्य के उल्लास में। तरुणावस्था में ही हम लोगों को यह संसार बड़ा रहस्यमय प्रतीत होता है। तब संसार हम लोगों के लिए एक मायालोक होता है। तारुण्य की दीप्ति में हम सभी लोग अपने को नायक समझ कर उस मायालोक में अपना एक विशेष गौरव प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। उस समय हमें अपनी हीनता और अक्षमता का ज्ञान नहीं रहता। हम सभी अपने

भीतर एक शक्ति का अनुभव करते हैं। हम समझते है कि हम अपने जीवन-पथ की समस्त बाधाओं को नष्ट कर डालेंगे, हम समस्त प्रति-द्वन्द्वियों को पराभूत कर लेंगे और महिमा के उच्चतम शिखर पर आसीन हो जायेंगे। प्रेम और सौन्दर्य दोनों को उपलब्ध करने के लिए मन में एक तीव्र आकांक्षा रहती है। यथार्थ जगत की कटुता का ज्ञान न होने से हम लोग कल्पना के जगत में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करते रहते हैं। हमें सत्य की महिमा पर विश्वास रहता है। हम प्रेम के गौरव को स्वीकार करते हैं। बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए हम लोग उद्यत रहते हैं। अन्याय और अत्याचार को देख कर हम उनका विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। जीवन की वीभत्सता हमारे लिए असह्य हो जाती है। हम समझ नहीं पाते कि संसार में क्यों इतनी अधिक वेदना, कष्ट और अन्याय है। हम समाज का विरोध करते हैं, और समय आने पर शासन का भी। यही समय है, जब हम उपन्यास में जीवन का सच्चा गौरव प्रदर्शित करते हैं। इसीलिए सभी उपन्यासों के नायक अथवा नायि-काओं में हम तारुण्य की दीप्ति और उल्लास को ही अंकित करते हैं। क्या आज तक कोई वृद्ध किसी उपन्यास का नायक हुआ है?"

मैंने कहा—"तब वृद्धावस्था में शरद बाबू या उन्हीं के समान अन्य श्रेष्ठ साहित्यकारों ने उपन्यासों की रचना किस प्रकार की?"

उन्होंने कहा—"यह बात तो स्वयं शरद बाबू ने स्वीकार की है कि वृद्धावस्था में उपन्यासों की रचना नहीं हो सकती। वे स्वयं उपन्यासों को छोड़ कर निबन्ध लिखना चाहते थे। श्रेष्ठ साहित्यकारों की श्रेष्ठ रचनायें उसी समय लिखी गयी हैं, जब उनमें तारुण्य की दीप्ति थी। यही नहीं, जब तक कोई साहित्यकार साहित्य के क्षेत्र में संघर्षमय जीवन व्यतीत करता रहा है, तभी तक उसकी रचना में एक ओज विद्यमान रहता है। ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच जाने के बाद अधिकांश की रचना-शक्ति क्षीण हो गयी है। यह बात दूसरी है कि अपनी ख्याति के

कारण किसी ने अपनी ऐसी परवर्ती हीन रचनाओं से भी विशेष अर्थ अर्जित किया हो। पर उनकी सच्ची शक्ति उनकी पूर्व-रचनाओं में ही विद्यमान रहती है। 'गोदान' प्रेमचन्द जी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास समझा जाता है। आलोचकों की दृष्टि में उसमें कला की एक परिपक्वता है, उसमें जीवन की यथार्थ अनुभूति हैं, परन्तु मैं 'गोदान' में तारुण्य का वह उल्लास नहीं पाता जो 'सेवा-सदन' में विद्यमान है।"

मैंने कहा—"परन्तु मेरी तो यह धारणा है कि चालीस वर्ष के बाद ही किसी की रचना-शक्ति परिपक्व होती है।"

उन्होंने कहा—"मैं भी इसे मानता हूँ। साहित्य और कला के क्षेत्र में तारुण्य की दीप्ति चालीस या पचास वर्ग की अवस्था पर निर्भर नहीं रहती। यह सम्भव है कि साहित्य के क्षेत्र में कोई साहित्यकार चालीस वर्ष की अवस्था में ही अपनी पहली रचना का निर्माण करे। उस समय वह साहित्य के क्षेत्र में बालक ही गिना जायगा, तरुण नहीं। पचास वर्ष की अवस्था में भी उसके भीतर तारुण्य की वह दीप्ति बनी रहेगी जिससे उसकी रचना का सच्चा विकास होगा। फिर भी यह बात सच है कि कल्पना के लिए जीवन में बसन्त-काल चाहिए। उसमें बसन्त की मादकता, बसन्त की श्री और बसन्त की उन्मादकारिणी विभूति चाहिए। जिस दिन किसी को संसार की यथार्थता का ज्ञान हो जाता है, उस दिन आप से आप कल्पना का मायालोक विनष्ट हो जाता है। उस दिन वह ज्ञान-विज्ञान की चर्चा कर सकता है, दार्शनिक की तरह चिन्तन कर सकता है, सुधारक की तरह जीवन के दोषों का निरीक्षण कर सकता है, पर कल्पना के असीम गगन में स्वच्छन्दतापूर्वक उड़ नहीं सकता। मेरा तो यह विश्वास है कि सच्चा उपन्यासकार आजीवन तरुण बना रहता है। संसार उसके लिए सदैव मायालोक रहता है। वह जीवन की यथार्थता की उपेक्षा कर जीवन की गरिमा को ही आत्मसात करने की चेष्टा करता है, इसी को मैं तारुण्य का मोह समझता हूँ।"

मैंने कहा—"तो क्या आप यह समझते हैं कि उपन्यासों में जीवन की यथार्थता ही नहीं रहती ?"

उन्होंने कहा—"साहित्य-जगत में यह यथार्थता ही मेरे लिए बड़ी रहस्यमयी बात हो गयी है। यथार्थता हम कहेंगे किसे ? हम सभी लोग जीवन भर कितने ही कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उन्हीं की चिन्ता में हम लोग लीन भी रहते हैं। वे सभी कार्य हमारे लिए आवश्यक होते हैं। नहाना-धोना, खाना-पीना, काम-काज करना और अंत में थक कर सो जाना। यही तो हम लोगों की दैनिक जीवन-चर्या है। उसकी यथार्थता में हम लोगों को सन्देह नहीं है। अपने इन्हीं कार्यों में व्यस्त रहने के कारण हम लोगों में स्वार्थों का संघर्ष होता है। हमें विरक्ति होती है, घृणा होती है, क्रोध होता है और क्षोभ होता है। यदि इसी यथार्थता में हमें जीवन का सच्चा रस मिलता तो हम उपन्यास क्यों पढ़ते ? और सिनेमाघरों में चित्रपट देखने क्यों जाते ? उपन्यासों में हम यथार्थता नहीं चाहते, हम उनमें जीवन की सच्ची गरिमा चाहते हैं। जिन बातों को हम अपने यथार्थ जीवन में देख नहीं पाते, उन्हीं बातों को उपन्यास में पा कर हम लोग जीवन के गौरव की सच्ची अनुभूति कर लेते हैं। कष्ट तो हम सभी पाते हैं, परन्तु उपन्यासकार द्वारा अंकित किसी पात्र के कल्पित दुःख की गाथा से हमें करुण रस की उपलब्धि होती है। हम उसके दुःख से रोते हैं, पर हमारे उस रोने के भीतर एक अलौकिक आनन्द रहता है। तभी साहित्य-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रसों की कल्पना की गयी है। घर में जब कोई बीमार पड़ता है या जब किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, तब उसकी यथार्थता हमारे लिए भयानक रूप से यथार्थ हो जाती है। उससे करुण रस की उपलब्धि नहीं होती। पर उपन्यासों में हम देवदास की व्यथा से व्यथित हो कर ही कथा-रस का सच्चा अनुभव करते हैं। हम सब के लिए अपने जीवन की छोटी-छोटी बातें यथार्थ हैं। अन्य लोगों के लिए वे तुच्छ भी हो सकती हैं। यदि मैं तुम्हें ही अपने जीवन की यथार्थ बातें बतलाने बैठूँ तो स्नेही होने पर भी तुम्हें मेरी उन बातों से विरक्ति हो जायगी। पर उपन्यास में हमें कल्पित नायक के कल्पित सुख-दुःख की बातों से कभी विरक्ति नहीं होती। इसीलिए मैं कहता हूँ कि हमारे लिए सचमुच जो जीवन की यथार्थता है, उस पर कल्पना का प्रलेप लगा कर हम लोग उसे मायालोक की एक अपूर्व वस्तु बना डालते हैं। उसमें जीवन की यथार्थता नहीं, मन की यथार्थता रहती है। उसमें सत्य की कटुता नहीं रहती, भाव का उल्लास रहता है। पं० केशवप्रसाद पाठक की अभी हाल में (१९५६) मृत्यु हुई है। पाठक जी की तरह शरद बाबू का देवदास अपने जीवन में विफलता प्राप्त कर चुका था। परन्तु देवदास शरद बाबू की अक्षय सृष्टि है। उसकी यथार्थ कथा से कितने ही लोगों को, कितने ही वर्षों तक कथा-रस उपलब्ध होता रहेगा। पर यही बात तुम क्या पाठक जी के लिए कह सकते हो ? उनके लिए जो यथार्थ जीवन था और उसमें जो कटुता थी, उसे ज्यों-की-त्यों चित्रित कर क्या तुम कथा-रस प्राप्त कर सकोगे ? यदि नहीं तो बतलाओ, जीवन की यथार्थता कहाँ है ?

मैंने कहा—"यह बात तो ठीक है कि आत्म-कथा, जीवन-चरित्र और उपन्यास तीनों में किसी एक व्यक्ति की जीवन-गाथा रहने पर भी उनमें भिन्नता रहती है। पर उपन्यासों में, विशेष कर आधुनिक उपन्यासों में यथार्थवाद की बड़ी महिमा मानी जाती है। आप क्या यह कहना चाहते हैं कि आधुनिक उपन्यासों में जीवन की यथार्थता नहीं है ?

उन्होंने कहा—"संसार में हम जो कुछ देखते हैं, उसकी सत्यता में हमें संदेह नहीं होता। पर उसी के साथ हमारा मन भी संसार की उन्हीं वस्तुओं को लेकर अपनी ओर से रचना करता रहता है। उपन्यास मन की रचना है, उपन्यास के पात्र हमारे मन के मनुष्य हैं। यह संभव है कि बाहर जो कुछ हमने देखा है, उसी के आधार पर हमारे मन में उन

पात्रों की रचना की हो। पर वे पात्र संसार के यथार्थ व्यक्ति नहीं होते। मैंने पढ़ा है कि एक बार शरद बाबू से पूछा गया कि राजलक्ष्मी सचमुच क्या कोई स्त्री है ? उन्होंने उत्तर दिया कि वह तो उनके अपने मन की सृष्टि है। सचमुच सभी औपन्यासिक पात्र हम लोगों के अपने अपने मन के मनुष्य हैं। यथार्थ व्यक्तियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। मन की इसी कर्तृत्वशक्ति में ही कला की कुशलता है। जिसका मन जितना अधिक उदार और उन्नत होता है, उसकी सृष्टि में भी वही उदारता आ जाती है। उसी उदार बुद्धि के कारण हम किसान, मजदूर और वेश्याओं में भी जीवन का एक विशेष सौन्दर्य देख पाते हैं। हम सचमुच यह चाहते हैं कि हम अपने जीवन में शरद बाबू की राजलक्ष्मी को देख लेते, हम सचमुच यह विश्वास करना चाहते हैं कि राजलक्ष्मी कल्पना की नहीं, हमारे अपने जगत की है। जहाँ सर्वत्र केवल हम लोग वीभत्सता ही देखते रहते हैं, वहाँ यदि हम जीवन का अपूर्व सौन्दर्य देख लें तो सचमुच हमें विस्मय होगा, आह्लाद होगा, और एक विशेष रस की भी हमें उपलब्धि होगी। शरद बाबू ने अपने सभी उपन्यासों में जीवन का वही सौन्दर्य व्यक्त किया है। उनके सभी पात्रों में जीवन का वही अपूर्व सौन्दर्य विलक्षित होता है। यदि यथार्थता से मतलब जीवन की कुरूपता, कटुता और वीभत्सता है तो शरद बाबू के उपन्यासों में उनका सर्वथा अभाव है।"

मैंने कहा—'मोपासां की कहानियों में तो जीवन की वह कुरूपता है। पर उनमें कला की सच्ची कुशलता भी है। उसके सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?'

उन्होंने कहा—'मैं यह पहले भी कहा चुका हूँ कि हम सभी लोग साहित्य-जगत में कल्पना का जो मायालोक निर्मित करते हैं, उसमें हम सभी अपने-अपने मन के मनुष्य को ही खोजते हैं। हम सब की अपनी-अनुभूति होती है और अपनी उसी अनुभूति के आधार पर मानव-जीवन

के प्रति हम लोगों में एक धारणा बद्धमूल हो जाती है। जिसे नैतिक जीवन की गरिमा कहते हैं, उसके प्रति यदि हम लोगों का विश्वास नष्ट हो गया है, तब हम सर्वत्र इसका अभाव ही देखेंगे। शरद बाबू भी तथा-कथित उच्च श्रेणी अथवा मध्यम श्रेणी के विशेष वर्ग में जीवन की महिमा नहीं देख पाये। मोपासां ने भी उसी वर्ग में नैतिक जीवन का पतन देखा। नैतिक जीवन का पतन एक विशेष परिस्थिति में सर्वथा संभव है। जहाँ एक ओर ऐश्वर्य का विलास होता है, वहीं दूसरी ओर नैतिक पतन भी होता है। परन्तु उस पतन में जीवन का सच्चा महत्व कहाँ है ? अथवा यह कहिये कि जीवन की सत्यता कहाँ छिपी हुई है ? इसी को जानने के लिए मोपासां तथा उन्हीं के समान अन्य कलाकारों ने प्रयत्न किया है। हम लोग जब बाहर नैतिकता का एक आवरण बना कर उसके भीतर क्षुद्रता और हीनता को छिपाये रखते हैं, तब राजा भोज के पास जैसे सत्य ने आ कर उसके जीवन के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित कर दिया, उसी प्रकार ऐसे कलाकारों ने जीवन में सत्य का प्रकाश डाल कर उसके यथार्थ रूप को व्यक्त कर दिया। बाहर जो महिमा थी, वह सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुई। वह सत्य की कसौटी है, यह नहीं कहा जा सकता। सत्य की कसौटी के द्वारा जीवन की यथार्थ महिमा की परीक्षा नहीं हुई। अपने जीवन की यथार्थता को जान लेने के बाद हम सभी को उसमें सार पाने की इच्छा होगी। सत्य की परीक्षा सदैव होती रहनी चाहिए। उसी के द्वारा नीति, धर्म, समाज की मर्यादा आदि सभी में जो अकल्याणकर तत्व हैं, वे अपने यथार्थ रूप में प्रकट हो जाते हैं। साहित्य में सत्य की यह परीक्षा अवश्य सतत होती रहनी चाहिए। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम दुराचारी के वर्णन में शील की सीमा का उल्लंघन कर उसी में रस पाते रहें। हिन्दी की ऐसी कितनी ही कथायें हैं, जिनमें सत्य की परीक्षा के स्थान में केवल अश्लील वर्णन के द्वारा रस प्राप्त करने की चेष्टा की गयी है और उसी में कला की एक विशेषता भी मान ली गयी है।"

मैंने कहा—'आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों में क्या आप रस नहीं पाते ?'

उन्होंने कहा—'यह सच है कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यासों में एक रसहीनता लक्षित होती है। लेकिन बँगला के नवीन लेखकों की रचनाओं में मैं कथा-रस पाता हूँ। उनमें भी नवयुग के अनुकूल नवीनता के लिए वैसा ही आग्रह है जैसा हिन्दी के उपन्यासकारों में है, परन्तु उनकी तुलना में मैं एक पाठक के रूप में यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि तथा-कथित हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकार अपनी रचनाओं में सफल नहीं हुए हैं। विश्व-साहित्य की तुलना में हिन्दी साहित्यकारों का क्या स्थान है, यह मैं नहीं कह सकूँगा, पर बँगला-कथाकारों की तुलना में वे हीन अवश्य हैं। बँगला-उपन्यासों के अभी तक जो अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं, उनके द्वारा हिन्दी पाठकों को जो रस मिलता है, वह हिन्दी की नव प्रतिभाओं की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता। एक बार किसी पत्र में किसी श्रेष्ठ समालोचक ने हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों के संबंध में कुछ्छी ऐसी ही बात कही थी। तब उसके प्रतिवाद में किसी ने यह कहा कि उन्होंने केवल निन्दा-भाव से यह बात लिखी है। मैं तो आलोचक नहीं हूँ, पाठक हूँ। मुझे किसी कृति पर निर्णय नहीं देना है। पर इतनी बात तो मैं अवश्य कहूँगा कि हिन्दी के उपन्यास-लेखकों में वह कर्तृत्व-शक्ति नहीं है जो बँगला के लेखकों में है। हिन्दी के आलोचक जिन उपन्याओं की प्रशंसा करते नहीं थकते, उनमें नवीनता होने पर भी मेरे लिए कोई विशेष आकर्षण नहीं है। 'मैला आँचल' की बड़ी प्रशंसा हुई। मैंने बड़ी व्यग्रता से उसे पढ़ा और पढ़ कर मुझे भी हताश होना पड़ा। मैं तो सचमुच यह समझ नहीं पाता कि किन भावों से प्रेरित होकर हिन्दी के आलोचक किसी विशेष कृति की प्रशंसा करते हैं। फिर भी मैं यह कहूँगा कि हिन्दी में एक नवीन कथा-शैली का निर्माण हो रहा है। उसकी अपनी विशेषता अवश्य है। पर उसी में औपन्यासिक कला की

समाप्ति नहीं हो जाती। मैं तो उपन्यासकार के लिए जो पहला आवश्यक गुण समझता हूँ, वह यह है कि वह सभी परिस्थितियों में रह कर जीवन की महिमा का अनुभव करे। वह दर्शक बन कर सर्वत्र एक उल्लास, एक आशा, एक उत्साह लेकर जीवन के सभी क्षेत्रों में भ्रमण करे और सभी के जीवन का यथार्थ मूल्य जानने का प्रयत्न करे। सुख बाहर के साधनों पर निर्भर है पर आनन्द की दीप्ति तो मन के भीतर ही रहती है। उसी के कारण सर्वत्र प्रकाश की उज्ज्वल धारा के समान आनन्द की धारा भी बहती रहती है। तभी हमें उनकी कृतियों में सच्चा रस प्राप्त हो सकेगा। 'आंका-बांका' में जो रस है, वह 'गिरती दीवारें' में नहीं है। क्योंकि एक में आनन्द का स्वच्छन्द प्रभाव है ओर दूसरे में कटुता, असहिष्णुता और क्षुद्रता की विकृत गति है। आप लोग मुझे चाहे जो कहें पर कथा-साहित्य के सम्बन्ध में मैं अपनी यह सम्मति देने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता।'

मैंने कहा—'इसीलिए तो मैं आप जैसे कथा-मर्मज्ञ से उपन्यास लिखाना चाहता हूँ।'

उन्होंने कहा—'मैं उपन्यासों के लिए अनेक कथानक सोच चुका हूँ, पर सच बात यह है कि उपन्यास लिखने की क्षमता मुझमें नहीं है। पाठक होना एक बात है और लेखक होना दूसरी बात। मैं तो आप की रचनाओं में शैली की जो एक अपूर्वता देखता हूँ, उससे मुग्ध हो गया हूँ। आप चाहें तो उपन्यास लिख सकते हैं। मैं तो उपन्यासों को पढ़ कर यही सोचता रह जाता हूँ कि यदि मैं उन्हें लिखता तो कैसे लिखता। एक बार तो मैंने एक लेखमाला ही तैयार करने का विचार किया था और उसका शीर्षक रखा था 'यदि मैं लिखता।' फ़िर भी यह बात सच है कि मैं उपन्यास नहीं लिख सकूँगा। यह कुछ बुरा भी नहीं है। हिन्दी के क्षेत्र में यदि सभी लेखक हो जायेंगे तो पाठक कौन होगा ? साहित्य की सच्ची संवृद्धि पाठकों की वृद्धि पर निर्भर है। मैं आपको बतलाता हूँ कि जब अमृतराय

जी का 'बीज' प्रकाशित हुआ, तब मैं उसे पढ़ने के लिए व्यग्र हुआ और जब तक मैंने उसे पढ़ नहीं लिया तब तक मेरी वह व्यग्रता दूर नहीं हुई। 'मैला आँचल' के लिए भी मैं ऐसा ही व्यग्र हुआ था। आप लोग पाठकों को इसी प्रकार व्यग्र बनाने का प्रयत्न कीजिए, तभी हिन्दी-साहित्य की सच्ची श्रीवृद्धि होगी। हिन्दी के पाठक ही आजके सच्चे समालोचक हैं।'

●

२

मैं जानता था कि बख्शी जी ने सदैव अपने आपको शिक्षक माना है और उसी में गौरव का अनुभव किया है। इसी से मैंने सबसे पहले उनसे यह पूछा कि शिक्षा के क्षेत्र में क्या आपने कभी असंतोष का कोई कारण नहीं पाया ? आजकल तो अधिकांश शिक्षकों को अपनी स्थिति से असंतोष है।

उन्होंने कहा—मुझे असंतोष तो तब होता जब मैं अधिक से अधिक पाने की लालसा करता। मैंने शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में अधिक से अधिक पाने की लालसा कभी नहीं की, मुझे जो मिला उसी से मैं संतुष्ट रहा। राजनाँदगाँव में मैं सन् १९३३ में एक सौ चालीस रुपये मासिक वेतन पाता था। जब मैं १९३५ में खैरागढ़ में शिक्षक के पद पर नियुक्त हुआ तब मुझे साठ रुपये ही मासिक वेतन के रूप में मिले। उस समय न शिक्षक—संघ था और न हम लोगों ने संघ की आवश्यकता ही समझी। आजकल शिक्षकों के हितों की रक्षा करने के लिए जो शिक्षक-संघ निर्मित हुआ है, उससे शिक्षकों पर अन्याय होने की कम संभावना है। अपने अधिकार के लिए शिक्षक लड़ भी सकते हैं। फिर भी कितने ही विज्ञ-जन शिक्षकों

के सम्बन्ध में अच्छी धारणा न रखकर उन्हें अधिक कर्तव्यनिष्ठ होने का उपदेश देते रहते हैं। कुछ समय पहले श्री दीवानचन्द्र शर्मा ने यह कहा था कि शिक्षा के क्षेत्र में वही लोग आते हैं जिन्हें उसकी प्रेरणा मिलती है, और जो कठिनाइयाँ झेल लेने की सामर्थ्य रखते है। उन्होंने यह भी कहा था कि शिक्षक सबसे बड़ा कलाकार है. जो देने में विश्वास रखता है लेने में नहीं। परन्तु क्या यह बात सभी शिक्षकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है ? सच पूछिये तो अधिकांश लोग कहीं काम न पाने पर शिक्षक बनते हैं। यह बात ठीक है कि शिक्षा के क्षेत्र में एक उच्च आदर्श का गौरव रहना चाहिये और शिक्षकों के जीवन में भी उसी आदर्श के अनुरूप गौरव होना चाहिए। जहाँ विद्या का क्षेत्र है, जहाँ ज्ञान की साधना में सब लोग निरत हैं, जहाँ सरस्वती की आराधना में सब लोग शुचिता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं, वहाँ किसी प्रकार का कालुष्य नहीं रह सकता। वहाँ कालुष्य अथवा ईर्ष्या के लिए स्थान ही नहीं है। प्राचीन काल में गुरु-जन ज्ञान के आगे विश्व के समस्त वैभव को तुच्छ समझते थे। आधुनिक युग में अब ज्ञान की वह साधना संभव नहीं है। आज जिसे लोग जीवन की सफलता समझते हैं वह है अर्थ की सिद्धि। अर्थ-लाभ पर गौरव आश्रित रहता है। यही नहीं, अर्थ ही गौरव की कसौटी है। जीवन-निर्वाह में शिक्षकों को अन्य लोगों की अपेक्षा यदि अधिक कष्ट सहना पड़ता है तो उन्हें असंतोष होगा ही। इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान शिक्षकों की मुख्य समस्या आर्थिक ही होती है। कदाचित् इसी हीनता को दूर करने के लिए दीवानचन्द्र शर्मा जी ने शिक्षकों के लिए 'कलाकर' शब्द का प्रयोग किया था। कला और व्यवसाय में जो सबसे बड़ा भेद है, वह यह कि व्यवसाय में अर्थ की सिद्धि प्रधान रहती है और कला में आनन्द की। कला स्वयं आनन्द की सृष्टि है। इसीलिये विषम परिस्थितियों में भी सच्चे कलाकार अपने भीतर आनन्द की अनुभूति कर कला की अनुपम कृतियों की रचना कर डालते

हैं। कष्ट और दुख उन रचनाओं के लिए बाधक नहीं हो सकते। परन्तु अब शिक्षा की ऐसी कला नहीं है कि शिक्षक तपस्वियों की तरह कष्ट और दुख को सह कर देश के भविष्य-निर्माताओं का निर्माण कर सके। अब शिक्षा की जो प्रणाली प्रचलित है उसमें छोटे-बड़े इतने अधिक लोग काम करते हैं कि वे सभी समान रूप से न गौरव पा सकते हैं और जीवन-निर्वाह में सभी प्रकार की सुविधायें। कलाकारों की तरह ज्ञान की साधना में निरत रह कर और अन्तर्जगत की आनन्दानुभूति में निमग्न रह कर शिक्षिकजन प्राथमिक, माध्यमिक या उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत नहीं कर सकते। एक बात और है, राष्ट्र-निर्माण में शिक्षकों के गौरव के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहा जाय, आज कल शिक्षा के क्षेत्रों में शिक्षार्थी और शिक्षकों के बीच में सद्भाव भी नहीं रहता। परीक्षा-प्रणाली के कारण किसी भी प्रकार परीक्षा उत्तीर्ण हो जाने के लिए शिक्षार्थी सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन करते हैं और यह देखा गया है कि शिक्षकों में भी कुछ ऐसे होते हैं जो ऐसी स्थितियों से अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यवसाय का यह भाव आ गया है कि कम से कम द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। शिक्षार्थी भी कम से कम परिश्रम कर अधिक से अधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में यह अनैतिकता बढ़ती ही जा रही है। उसी के कारण शिक्षार्थियों में अनुशासनहीनता भी बढ़ रही है।

मैंने पूछा—आप कभी शिक्षा का क्षेत्र छोड़कर साहित्य के क्षेत्रों में और कभी साहित्य के क्षेत्र को छोड़कर शिक्षा के क्षेत्र में आये। क्या किसी विशेष कारण से आपने ऐसा किया ?

उन्होंने कहा—हम सब लोगों के जीवन में अलग-अलग कठिनाइयाँ आती हैं और हम सब को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। परिस्थितियों की विवशता के कारण हम लोग भी जीवन भर भटकते

रहते हैं। मैं तो चाहता था कि मैं एक ही स्थान में ब... रहूँ और अपना जीवन व्यतीत करूँ। छत्तीसगढ़ियों के सम्बन्ध में उनके स्वभाव की यह दुर्बलता प्रसिद्ध है कि उन्हें अपने स्थान से बड़ा मोह होता है, वे अपना स्थान छोड़ना नहीं चाहते। फिर भी परिस्थितियों के कारण सभी लोगों को स्थान छोड़ना पड़ता है। मुझे भी कितने ही स्थानों में जाना पड़ा। पर साहित्य के क्षेत्र में रह कर मैंने शिक्षा का काम किया है और शिक्षा के क्षेत्र में रह कर भी मैंने साहित्य का काम किया है। मैं सदैव कुछ न कुछ पढ़ता-पढ़ाता रहा और कुछ न कुछ लिखता-लिखाता भी रहा। न साहित्य से मेरा सम्बन्ध छूटा न शिक्षा से।

मैंने पूछा—आधुनिक साहित्य के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उन्होंने कहा—ऐसा प्रश्न कितने ही वयोवृद्ध साहित्यकारों से किया जाता है। साहित्य के क्षेत्र में दो दल सदैव बने रहते हैं, एक तरुणों का दल रहता है और दूसरा तरुणों का। वयोवृद्ध जन तरुणों के कामों को एक आशंका की दृष्टि से देखते हैं। तरुण लकीर के फकीर बनना पसंद नहीं करते। उनमें एक विद्रोह रहता है। साहित्य के क्षेत्र में सदैव तरुणों का वह विद्रोह देखा जाता है। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में सदैव वाक्-युद्ध होते रहते हैं। आजकल भी नई कहानी और नई कविता के संबंध में यथेष्ठ मतभेद हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वर्तमान साहित्य के संबंध में कितने ही विज्ञों को संतोष नहीं है। माचवे जी ने एक बार कहा था कि बहुत कम पुस्तकें ऐसी निकलती हैं जिन्हें दुबारा पढ़ने की इच्छा हो। कई को तो एक बार भी पढ़ने का मन नहीं होता। श्री आरिगपूडि ने भी यही बात कही है। उनका कथन है कि हिन्दी में उपन्यास तो अधिक निकलते हैं पर साहित्यिक कसौटी पर कम ही खरे उतरते हैं। वे वास्तविकता से कम संबंधित होने के कारण विशेष प्रभावित नहीं करते। मैं भी कथा-साहित्य का प्रेमी पाठक हूँ। मैं भी सभी तरह के उपन्यास पढ़ता आया हूँ। यह ठीक है कि हम सब लोगों

की अपनी रुचि भी होती है, उसी के कारण किसी को यदि कोई रचना विशेष अच्छी लगती है तो यह बिलकुल संभव है कि वही रचना दूसरे को निकृष्ट प्रतीत हो। जिसे लोक-रुचि कहते हैं, वह भी साहित्य के लिए कसौटी नहीं हो सकती। यह देखा गया है कि कितने ही कारणों से कोई रचना किसी युग में विशेष प्रसिद्ध हो जाती है और फिर वह ऐसी लुप्त हो जाती है कि लोग उसे बिलकुल भूल जाते हैं। मैं तो साहित्य का सच्चा समीक्षक काल को ही मानता हूँ। साहित्य के क्षेत्र में कितने ही साहित्यकार आते हैं और कुछ समय के लिए धूम मचा कर चले जाते हैं। काल की गति के साथ कितने ही साहित्यकार अपनी महिमा को खो बैठते हैं। आजकल साहित्य के क्षेत्र में प्रचार की विशेष महत्ता हो गई है। ठोक पीटकर भले ही कोई वैद्यराज न बन सके पर ढोल पीट कर या नगाड़ा बजा कर किसी न किसी रूप में लेखक की महिमा बनाने का प्रयत्न किया जाता है। व्यवसायिक दृष्टि से साहित्य में सफलता पाने के लिए ऐसे प्रचार की आवश्यकता होती है। तुलसीदास, सूरदास और बिहारीलाल के प्रचारक उनके युग में साहित्य के सच्चे रसिक पाठक थे, परन्तु आधुनिक युग में साहित्य शुद्ध साहित्य ही नहीं रह गया है, यह एक व्यवसाय, एक कला और शक्ति भी है। आधुनिक युग में यह अब संभव नहीं हैं कि तुलसीदास के समान कोई कवि एकान्त में बैठकर कोई रचना करे और उस रचना का देशव्यापी प्रचार केवल साहित्य-प्रेमी पाठकों द्वारा हो जाय। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में लेखकों से कहीं अधिक महत्व समीक्षकों का हो गया है। यह कहना कठिन है कि लेखक समीक्षक बनाते हैं अथवा समीक्षक लेखक। उसी के साथ यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रकाशक होते हैं वे लेखकों और समीक्षकों दोनों को प्रकाश में लाते हैं। प्रकाश में लाने के लिए व्यवसायिक बुद्धि की आवश्यकता होनी चाहिये। उसके अभाव में श्री-सम्पन्न प्रकाशक भी अपना सारा ऐश्वर्य खो बैठते हैं। हिन्दी के कितने

ही पुराने प्रकाशक अब नहीं रह गये हैं और उनके साथ कितने ही पुराने लेखकों की कृतियाँ भी लुप्त हो गयी हैं। इसीलिए यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि समीक्षकों के द्वारा किसी लेखक की कृति का कैसा भी मूल्यांकन क्यों न किया जाय, व्यवसाय की दृष्टि से उसकी सफलता तभी है जब वह काल के आघात को भी सह कर जनता में प्रचलित रहे। श्री देवकीनन्दन खत्री अपने समकालीन साहित्यकारों में श्रेष्ठ भले ही न रहें हों परन्तु व्यवसाय की दृष्टि से वही अपने समय के अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा अधिक सफल साहित्यकार हुए। लगभग एक सौ वर्षों से उनके उपन्यास अभी तक बराबर कथा-प्रेमियों पाठकों के द्वारा पढ़े ही जा रहे हैं।

मैंने पूछा—तो क्या साहित्य का गौरव आप लोक-रुचि पर आश्रित करते हैं ?

उन्होंने कहा—साहित्य में लोक-रुचि की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि कितने ही साहित्यकार विद्वानों के परितोष में ही अपनी कला की साथकता देखते हैं। सेनापति के समान ऐसे भी कवि होते हैं जो मूढ़ों के लिए दुर्गम और विज्ञों के लिए सुगम कविताओं की रचना करते हैं। यदि उनकी रचनाओं से उनके समकालीन लोगों की तृप्ति नहीं होती तो भी वे उस पर ध्यान नहीं देते। भवभूति ने तो यह कहा कि जिन्हें मेरी रचना से संतोष नहीं होता या जो मेरी रचनाओं की अवज्ञा करते हैं उनके लिए मैंने रचना की भी नहीं है। कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई ऐसा साहित्य-रसिक उत्पन्न होगा जो मेरी रचनाओं का आदर करेगा, मैं उसी के लिए लिखता हूँ। यह बात माननी पड़ेगी कि साहित्य में रस की अनुभूति के लिए एक विशेष मानसिक स्थिति होनी चाहिये। जनता का यदि मानसिक विकास अवरुद्ध हो गया है तो सत्साहित्य की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव यह तो प्रयत्न किया ही जाना चाहिये कि जनता की रुचि परिष्कृत की जाय, उसका मानसिक विकास किया जाय। साहित्य का सच्चा संबंध जनता से होता है। जनता के ही हित के लिए साहित्य की सृष्टि होती है। इसी से लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह देखा गया है कि कभी-कभी उच्च कोटि के ग्रंथ अपने समय में जनता के लिए अपठनीय हो जाते हैं और निम्नकोटि के ग्रन्थ प्रचलित हो जाते हैं। पर अधिक समय तक वे लोगों को धोखा नहीं दे सकते। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उच्चकोटि के लेखक भले ही दुर्दशाग्रस्त हो जायँ पर अन्त में उनकी रचनाओं को लोग आग्रह के साथ पढ़ते हैं। मुख्य बात यह है कि साहित्य में एक ओर जैसे लोक-शिक्षा का प्रचार होना चाहिए, उसी प्रकार दूसरी ओर सत्साहित्य की सच्ची समीक्षा भी होनी चाहिए। आजकल कितने ही लोगों को साहित्य-निर्माण के साथ साहित्य-समीक्षा के संबंध में भी असंतोष है। मुझे स्मरण है कि एक बार एक सज्जन ने कहा था कि आजकल एक ओर श्रमी साहित्यिक हैं और दूसरी ओर गद्दीधारी साहित्यिक। उन्हीं के बीच में संघर्ष होने के कारण हिन्दी-साहित्य की विकास-गति अवरुद्ध हो गयी है। बेनीपुरी जी ने एक बार क्षुब्ध होकर कहा था कि आज हिन्दी का साहित्यकाश गर्द-गुबार से भर गया है। हिन्दी का आलोचना-साहित्य तो और भी भ्रष्ट है। आलोचना, इतिहास या संग्रह के नाम पर ऐसी-ऐसी पुस्तकें निकल रही हैं जिनका उद्देश्य होता है किसी खास आचार्य-पीठ को प्रमुखता देना। जो लोग साहित्य की एकान्त-साधना करना चाहते हैं, उनकी कहीं पूछ नहीं हैं। भाषा और शैली में नये-नये प्रयोग होते हैं। इनमें से उन्हीं प्रयोगों की पूछ है जिनके लेखक किसी आचार्य-पीठ से संबंधित हैं।

मैंने पूछा—आजकल हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए सभी प्रान्तों में साहित्य-संस्थायें काम करने लगीं हैं, उनके संबंध में आप का क्या विचार है ?

उन्होंने कहा—मैं तो प्रारम्भ से ही साहित्य-संस्थाओं से अलग-सा

रहता आया हूँ । साहित्य-सम्मेलनों में भी मैं जाना पसंद नहीं करता । एकान्त-जीवन व्यतीत करने के कारण साहित्यकारों से भी कम मिलता-जुलता हूँ । पर यह बात सच है कि साहित्य-संस्थाओं के संबंध में कितने ही विज्ञों ने अपना क्षोभ प्रकट किया है । एक बार सुमन जी ने लिखा था—हमें यह देखकर और अधिक ग्लानि होती है कि साहित्यकारों की सहायता, संरक्षण एवं पोषण के लिए जो दो-एक संस्थायें उठ खड़ी हुई हैं और जिन्हें सरकार से सहायता प्राप्त होती है, वे केवल अपने विज्ञापन एवं प्रचार तथा अपने कुछ सदस्यों के राजनैतिक उत्थान का साधन बन गई हैं । यह सच है कि देश में जनतंत्र की प्रतिष्ठा होने के बाद भी जनहित का स्थान स्वार्थ-सिद्धि ने ले लिया है । जिन लोगों के पास किसी भी प्रकार की शक्ति आ गई है, वे उस शक्ति का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते हैं । साहित्य के क्षेत्र में भी हम सच्चे गौरव को खोकर एक मिथ्या प्रतिष्ठा पाने के लिए काम करने लगे हैं ।

मैंने पूछा—साहित्यकार और शिक्षक दोनों ही ज्ञान-पथ के पथिक माने जाते हैं । सर्वसाधारण में भी उनके प्रति एक विशेष गौरव का भाव अभी तक विद्यमान है, इसलिए उन्हें अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए । इसके लिए क्या किया जाय ?

उन्होंने कहा—आधुनिक युग में अधिकांश साहित्यकारों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वे मसिजीवी हैं, साहित्य उनके लिए एक व्यवसाय है, जैसे शिक्षकों के लिये शिक्षा । यही कारण है कि वर्तमान युग में जैसे शिक्षक प्राचीन युग के गुरुओं की प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते उसी प्रकार वर्तमान युग के साहित्यकार साहित्य-साधना के श्रेष्ठ गौरव के पात्र नहीं होते । कुछ समय पहले मैंने एक उपन्यास पढ़ा था । उस उपन्यास में एक साहित्यकार ने अपने मनोभावों को एक गोष्ठी में इस प्रकार व्यक्त किया—मैं समाज के शोषण का सजीव प्रतीक हूँ, मेरा तन भूखा, मेरा मन भूखा । मैं जैसा

गुलामी के दिनों में था, वैसा आज भी हूँ । उसके ही आक्षेप का जवाब एक सज्जन ने उसी गोष्ठी में दिया—बड़े-बड़े साहित्यकार अन्य राजनीतिज्ञ के सामने अपना सिर झुकाते हैं, उस पर कविता रचते हैं । जितने भी अभिनन्दन-ग्रन्थ लिखे गये हैं, साहित्यकारों ने निकाले हैं । रुपया खाने वाले भी साहित्यकार माने जाते हैं । हमारा आरोप है कि हम सभी गिरे हुए हैं । उसमें एक व्यक्ति, एक संस्था अथवा एक वर्ग का दोष नहीं है । मैं ऐसी ही बातें कितने ही स्थानों में सुनता रहता हूँ । यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्वार्थ-बुद्धि के कारण ही नैतिक पतन होता है और उसी नैतिक पतन के कारण सभी क्षेत्रों में कर्तव्य की सच्ची निष्ठा नहीं होती । आज देश के भीतर क्या शिक्षा और क्या साहित्य, सब में जब भ्रष्टाचार की बात कही जाती है, तब उसके भी मूल में कर्तव्यनिष्ठा का अभाव काम करता है । सचमुच दूसरों को उपदेश देना जितना सरल है, उतना उन्हीं उपदेशों का पालन करना कठिन है । अनुचित लाभ उठाने का अवसर पाते ही सभी तरह के लोग प्रलोभन में फँस ही जाते हैं । ऐसी स्थिति में किसी को व्यर्थ दोष न देकर हम यदि अपनी ही आत्म-परीक्षा करें तो अच्छा हो । हम स्वयं क्या इतने निर्दोष हैं कि दूसरों पर दोषा-रोपण करें । सद्गुणों की बड़ी कठोर परीक्षा होती है । तभी तो यह कहा गया है कि विकार का हेतु उपस्थित होने पर जब किसी का चित्त विकृत न हो तो वह धीर है । **मैं तो साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में विशुद्ध आनन्द के ही भाव से काम करता हूँ । यदि मुझको किसी काम में आनन्द नहीं मिलता तो वह काम तुरन्त छोड़ देता हूँ ।**

मैंने कभी किसी को दोष नहीं दिया । कोई संस्था कैसा भी काम करे, साहित्यकार तो अपनी कृतियों से ही आत्मसंतोष प्राप्त करता है । उसकी रचनाएँ अच्छी हों या बुरी, पर उसके इस आत्म-संतोष को न कोई संस्था छीन सकती है और न कोई व्यक्ति ।

•

अपनी नज़र में

⊙ आज पचास वर्षों के बाद यह अनुभव अवश्य कर रहा हूँ कि साहित्य-जगत में मैंने जो कुछ किया है, उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है।

⊙ कायस्थ होने के कारण मैं अपने को मसिजीवी समझता आया हूँ। यदि कायस्थ को कलम चलाने का अवसर दिया जाए तो वह कभी नहीं चूकेगा।

⊙ छात्रावस्था में मैंने हिन्दी के जिन साहित्यकारों में विशेष गौरव देखा, वे थे—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० कामताप्रसाद गुरु, पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, पं० माधवराव सप्रे और पं० माखनलाल चतुर्वेदी।

⊙ तरुणों के हृदय में जो उल्लास का भाव होता है, वह अपने लिए पथ बना ही लेता है।

⊙ तरुण शिव की अपेक्षा सुन्दर की ओर ही विशेष प्रवृत्त होते हैं।

⊙ साहित्य-जगत में चिर तारुण्य बना रहता है। एक जाता है और दूसरा उसका स्थान आप से आप ले लेता है।

⊙ जो रचनाएँ अपनी नवनता की दीप्ति खो बैठती हैं, वे आप से आप विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं।

⊙ काल के आघात को वही रचनाएँ सह पाती हैं, जिनमें चिरंतन आनन्द का भाव रहता है। वे पाठकों के लिए चिर-नवीन बनी रहती हैं।

□□

सन् १९१६ में मैं बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर राजनाँद-गाँव के हाईस्कूलमें शिक्षक हुआ और उसी वर्ष 'प्रायश्चित' के नाम से मेंटरलिक के एक नाटक का मर्मानुवाद कर हिन्दी साहित्य-जगत् में लेखक के रूप में भी प्रविष्ट हुआ। उसके पहले मैं 'हितकारिणी', 'प्रभा' और 'सरस्वती' में कुछ छोटी-छोटी कविताएँ और कहानियाँ लिख कर लेखकों की पंक्ति में स्थान पा गया था, पर 'प्रायश्चित' मुझको साहित्य-जगत में ले गया। मुझमें एक महत्वाकाँक्षा भी उत्पन्न हो गई। मैं यह समझने लगा कि साहित्य के क्षेत्र में भी मैं कुछ काम कर सकता हूँ।

सन् १९१६ से आज तक मैं बराबर शिक्षा-जगत् के साथ-साथ साहित्य-जगत् में भी काम करता आ रहा हूँ। तब से मैं बराबर पढ़ता-पढ़ाता और लिखता-लिखाता आ रहा हूँ। आज इतने वर्षों के बाद मैं यह अनुभव अवश्य कर रहा हूँ कि साहित्य-जगत् में मैंने जो कुछ किया है, उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। बाल्काल से ही साहित्यकारों के पति मेरे मन में एक विशेष गौरव की भावना उत्पन्न हो गई थी। छात्रावस्था में मैंने हिन्दी के जिन साहित्यकारों में विशेष गौरव देखा, वे थे—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० कामता प्रसाद गुरु, पं० रघुवर

प्रसाद द्विवेदी, पं० माधव राव सप्रे और पं० माखन लाल चतुर्वेदी। इन साहित्यकारों के प्रति मुझमें जो श्रद्धा का भाव था, उसके कारण मुझमें एक आतंक का भी भाव उत्पन्न हो गया था। मैं इन पाँचों साहित्यकारों से परिचित हो चुका था, फिर भी उनके पास बैठकर बातें करने का साहस मुझे कभी नहीं हुआ। जब कभी मैं उनसे मिला तब केवल उनकी बातें ही सुनता रहा, अपनी ओर से कुछ कहने में मुझे एक हिचक-सी रही। उन्हीं के गौरव के कारण साहित्य के क्षेत्र में मैंने स्वयं अपने में भी एक हीनता का भाव पाया। यह बात नहीं है कि लिखने की ओर प्रवृत्ति नहीं थी। मैं तो विशेष ज्ञान न होने पर भी किसी भी विषय पर निबंध लिखने में नहीं डरता था। आवश्यकता होने पर मैंने सभी तरह के विषयों पर लेख लिखे हैं और लिखाए भी हैं। कायस्थ होने के कारण मैं अपने को मसिजीवी समझता आ रहा हूँ। मेरे परिवार में सदैव एक साहित्यिक वातावरण रहा है। उसी के कारण मैं यह समझने लगा कि यदि कायस्थ को कलम चलाने का अवसर दिया जाए, तो वह कभी नहीं चूकेगा। छात्रावस्था में ही मैं अँग्रेजी के प्रसिद्ध निबंध-लेखकों के निबंधों को पढ़ चुका था। 'सरस्वती' में भी में तरह-तरह के निबंध पढ़ता आया था। इसी से निबंध लिखने की ओर मेरी विशेष प्रवृत्ति हो गई थी।

सन् १९१२ में मैं मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर काशी के सेंट्रल हिंदू कालेज में पढ़ने के लिए गया। वहीं मैं पारसनाथ सिंह जी से परिचित हुआ। उन्हें भी हिंदी-साहित्य के प्रति विशेष प्रेम था और और चार वर्षों तक हम दोनों साथ-साथ कविताएँ और निबंध लिखते रहे। उनकी कितनी ही छोटी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने अपने इतिहास में उनकी उन छोटी-छोटी कविताओं का उल्लेख किया है। इसमें संदेह नहीं कि उन रचनाओं में एक नवयुग की सूचना थी। बी० ए० हो जाने के बाद पारसनाथ सिंह जी तो

हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र से पृथक ही हो गए। परन्तु उनके कारण मेरे हृदय में साहित्यिक महत्वाकांक्षा अवश्य जागृत हो गई। जब मैं 'सरस्वती' में काम करने लगा, तब भी उन्होंने मेरे अनुरोध से 'सरस्वती' में कुछ निबंध लिखे। कालेज की शिक्षा समाप्त कर जब मैं शिक्षक हुआ, तब मुझे राजनाँदगाँव में एक विशेष साहित्यिक वातावरण मिला। यहीं मैंने कितनी ही छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं। उन दिनों मुकंदीलाल जी श्रीवास्तव भी राजनाँदगाँव में शिक्षक थे। उनके साथ मेरा जो स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हुआ, वह अभी तक बना हुआ है।

हम लोगों को अपने जीवन में जिनसे प्रेरणा मिलती है; उनमें भी एक संयोग काम करता है। मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि मुझे 'सरस्वती' में काम करने का भी अवसर मिल सकता है। उन्हीं दिनों पं० माधवराव सप्रे जी 'कर्मवीर' का प्रकाशन करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने मुझे 'कर्मवीर' में सहायक संपादक के रूप में काम करने के लिए कहा, तभी मैंने यह सोचा कि मैं शिक्षा-जगत् से अलग होकर साहित्य-जगत् में काम करूँ। 'सरस्वती' में काम करने के लिए एक सहायक संपादक की आवश्यकता थी। मैंने द्विवेदी जी के पास एक कार्ड लिख दिया। उस संबंध में जब पं० लल्ली प्रसाद पांडे जी का पत्र मिला, तब मेरे लिए वह आशातीत बात थी। मैं सन् १९२० में 'सरस्वती' में काम करने के लिए सहायक संपादक के रूप में नियुक्त हो गया। इलाहाबाद मेरे लिए अपरिचित स्थान नहीं था, परन्तु इंडियन प्रेस से मैं बिलकुल अपरिचित था। पहले ही दिन जब मैं काम करने बैठा, तब मैं बिलकुल घबड़ा गया। मैं उसी दिन रात को कानपुर चला गया और द्विवेदी जी से मिला। उनसे मैंने अपनी घबराहट की बात कही। उन्होंने मुझको बड़ा प्रोत्साहन दिया और फिर मैं लौट कर इलाहाबाद आ गया। मुझे पं० देवीदत्त जी शुक्ल से बड़ी सहायता मिली। उसी समय 'सरस्वती' में पं० रामप्रसाद जी त्रिपाठी का एक लेख ब्रज-भाषा के

काव्य साहित्य पर प्रकाशित हुआ। मैं उस लेख को बड़ा महत्वपूर्ण समझता हूँ। उसके पहले हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के नाम से जो लेख प्रकाशित होते थे, उनसे मुझे विरक्ति हो जाती थी। उन दिनों बिहारी और देव को लेकर यथेष्ट साहित्यिक विवाद भी हुए। त्रिपाठी जी ने पहली बार हिन्दी में समालोचना की नई पद्धति प्रदर्शित की। उसके बाद उन्होंने कदाचित् फिर कोई साहित्यिक निबन्ध नहीं लिखा। पर उनके उसी साहित्यिक निबन्ध से मैं भी हिन्दी-साहित्य का विशेष अध्ययन करने लगा। मैं पाश्चात्य समालोचना पद्धति से कुछ परिचित था। बँगला-साहित्य में भी कितने ही अच्छे आलोचनात्मक निबन्ध निकले थे। मैंने उन सभी का अध्ययन किया, और उन्हीं के आधार पर मैं साहित्य की विवेचना करने लगा। **द्विवेदी जी ने मेरे 'कविता का भविष्य' शीर्षक लेख को पसन्द किया। उन्होंने मेरे 'वाल्टह्विटमैन' शीर्षक लेख की भी प्रशंसा की। इसी से मैं उसी तरह के लेख लिखने** लगा। उन लेखों में मौलिकता नहीं है, पर मेरा प्रयास यह था, कि हिन्दी के तत्कालीन पाठकों को साहित्य का सच्चा रूप बतलाया जाए।

सन् १९२१ में मुझ पर 'सरस्वती' का सारा भार आ गया। उस समय मैं और अधिक घबरा गया। उसी समय हड़ताल होने के कारण 'सरस्वती' का पहला अंक लगभग तीन महीने तक रुका रहा। लोगों ने कहा कि द्विवेदी जी के हट जाने के बाद अब 'सरस्वती' चल नहीं सकती। फिर इंडियन प्रेस के भवन को इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने खरीद लिया। तब 'सरस्वती' के प्रकाशन का अस्थायी प्रबन्ध किया गया। वह समय मेरे लिए विशेष संकट का काल था। हिन्दी-साहित्य-जगत में 'सरस्वती' की बड़ी प्रतिष्ठा थी। मैं डरने लगा कि 'सरस्वती' की वह प्रतिष्ठा मेरे कारण कहीं लुप्त न हो जाए। उस समय इंडियन प्रेस के स्वामी श्रीमान् बाबू चिंतामणि घोष ने मुझको प्रोत्साहित किया और उन्हीं के प्रोत्साहन से मैं 'सरस्वती' में कार्य करने लगा।

हिन्दी-साहित्य में नवयुग का सूत्रपात हो चुका था। 'सरस्वती' के जो पुराने लेखक थे, उनसे 'सरस्वती' का संबंध टूट-सा गया था। द्विवेदी जी के न रहने पर अधिकांश पुराने लेखकों ने लेख भेजना बन्द कर दिया, केवल पं० रामचरित उपाध्याय और ठाकुर गोपालशरण सिंह जी की रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होती रहीं। हिन्दी में नव प्रतिभाओं का उन्मेष हो रहा था। साहित्य के क्षेत्र में तरुण लेखक और कवि पदार्पण कर रहे थे। उन लेखकों में जैसे तारुण्य की दीप्ति थी वैसे ही तारुण्य का दृढ़ विश्वास था। कविता के क्षेत्र में तरुणों की वह नव प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट होने लगी। साहित्य में लोक-शिक्षा को प्रधानता देने वाले मेरे समान लोगों के लिए वहीं एक बड़ी कठिनाई थी। शिक्षक होने के कारण मैं रचनाओं में किसी प्रकार की अस्पष्टता नहीं देख सकता था। नवीनता के लिए मुझे भी व्यग्रता थी। द्विवेदी जी के समय में पंडित बद्री नाथ भट्ट और मुकुटधर पांडेय की कविताओं में जो नवीनता थी, उसके कारण उनकी रचनायें तत्कालीन तरुण पाठकों के लिए विशेष स्पृहणीय थीं परन्तु उनमें भावों की अस्पष्टता नहीं थी। शैली में ऐसी कोई विलक्षणता नहीं थी जिससे साधारण पाठकों को विरक्ति हो। लोक-रुचि के अनुकूल उनमें भाव, भाषा और शैली में एक ऐसी सरलता थी जिसे साधारण पाठक अनायास ही ग्रहण कर लेते थे। इसी से नव रचनाओं में मैं किसी प्रकार की अस्पष्टता या भावों की जटिलता नहीं चाहता था। वह हिन्दी साहित्य का निर्माण-काल था। 'सरस्वती' के समान पत्रिकाओं का उद्देश्य लोक-शिक्षा का प्रसार था। अतएव उसमें ऐसी ही रचनाओं की आवश्यकता थी, जिनको पाठक सरलता से समझ सकें और उनमें रस भी प्राप्त कर सकें। देश के भीतर एक क्रान्ति की भावना अवश्य फैल रही थी। लोग नये पथ की खोज में थे। राष्ट्र के नव निर्माण के लिए कितने ही प्रयत्न हो रहे थे इसलिए कविता के क्षेत्र में राष्ट्र की चेतना-शक्ति को प्रबुद्ध करने के लिए कवियों द्वारा प्रयास हो रहा था। उस समय

जितनी रचनाएँ निकलती थीं, उनमें यही एक भाव काम कर रहा था। उन सभी में एक नव आदर्श के निर्माण के लिए एक उत्सुकता थी, परन्तु तरुणों के हृदय में जो उल्लास का भाव होता है, वह अपने लिए एक नवीन पथ ही बना लेता है। उनमें जो स्फूर्ति रहती है, वह स्वच्छंदता चाहती है, वह बंधनों को नष्ट करना चाहती है, वह सौंदर्य के विशुद्ध रूप को स्वायत्त करना चाहती है। तरुण-वर्ग शिव की अपेक्षा सुंदर की ओर ही विशेष प्रवृत्त होते हैं। अभी तक कविताओं में लोक-हित की ही भावना काम कर रही थी, उनमें विवेक था, संयम था, नीति थी, नवजागरण का संदेश था, पर उनमें सौंदर्य की वह कल्पना नहीं थी, जिससे तरुण अपने लिए नए स्वप्नों की रचना करते हैं। प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष एक बार तब हुआ था, जब खड़ी बोली ने ब्रज-भाषा को अपदस्थ कर दिया। सन् ९१२१ के बाद फिर वही प्राचीनता के साथ नवीनता का संघर्ष हुआ। छायावाद के नाम से जो कविता-शैली प्रचलित होने लगी, उसका विरोध द्विवेदी जी, शुक्ल जी और पद्मसिंह शर्मा ने किया। फिर भी छायावाद ने हिन्दी-साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया।

इलाहाबाद में पहली बार जब कवि-सम्मेलन हुआ, तब पंत जी ने अपनी 'छाया' शीर्षक कविता पढ़ी। उस पर जनता मुग्ध हो गई और अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने प्रसन्न होकर अपने गले से माला उतार कर पंत जी के गले में डाल दी। उस समय मैं स्वयँ पंत जी की कविता से प्रभावित नहीं था। मैने जब उनकी 'मौन-निमंत्रण' और 'शिशु' कवितायें सुनीं, तब मैं मुग्ध हो गया। उसके पहले मैं 'सरस्वती' में 'कलरव' शीर्षक देकर उनकी तीन-चार कविताएँ प्रकाशित कर चुका था। परन्तु 'मौन निमन्त्रण' के बाद मैं प्रति मास उनकी कविताएँ देने लगा। उन्हीं दिनों अन्य तरुण कवियों में भी मैंने एक विशेष रचना-शक्ति देखी थी। उस समय इलाहाबाद के कितने ही छात्रों में कविता की ओर विशेष

प्रवृत्ति हो गई थी। पं० गिरजादत्त शुक्ल, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय के शिष्यत्व को स्वीकार कर कविता लिखने लगे। श्री रामकुमार जी वर्मा बच्चन जी का तो वह छात्रकाल था। श्री भगवती चरण वर्मा साहित्य के क्षेत्र में आ गए थे। अपने बालबंधु श्री रामानुज जी के कारण वर्मा जी से मेरा विशेष परिचय हो गया था। पंत जी की कविताओं को लेकर हम लोगों ने यथेष्ट विवाद भी किया था। महादेवी वर्मा जी 'क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज' में पढ़ रही थीं। मैं वहाँ अपनी एक छात्रा को पढ़ाने के लिए जाया करता था। उन्हीं ने एक बार मुझे महादेवी वर्मा जी की प्रारम्भिक रचनाओं को दिखलाया। उन रचनाओं में एक बालिका के सरल मनोभावों के स्थान में मैंने एक गांभीर्य पाया, उससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और कौतूहल भी। उन दिनों सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं ने पाठकों को मुग्ध कर लिया था। उन रचनाओं में नारी-जीवन का बड़ा ही सरस चित्रण था। उनमें कल्पना के स्थान में यथार्थ मनोभाव ही अंकित हुए थे पर महादेवी जी की कविताओं में कल्पना का विशुद्ध विलास ही नहीं, एक ऐसी चिंतनशीलता भी आ गई थी, जिससे ऐसा जान पड़ता था कि उस छोटी अवस्था में भी वे यथार्थ-जगत् से हट-कर एक विशेष मनोमय जगत् में विचरण कर रहीं हैं। उन्हीं की सम-कालीन छात्राओं में सत्यवती दुबे, चंद्रावती शुक्ल, चंद्रावती त्रिपाठी और तेजरानी दीक्षित में अच्छी रचना-शक्ति थी। कथा-साहित्य में नवयुवकों द्वारा नये प्रयोग हो रहे थे। भगवती प्रसाद बाजपेयी, विजय वर्मा और शम्भु दयाल सक्सेना ने मिलकर 'मीठी चुटकी' नामक एक उपन्यास लिखा। उसकी बड़ी प्रसंसा हुई। सुदर्शन जी हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में आ गये थे। उनकी कहानियों की ओर भी पाठक आकृष्ट होने लगे थे। श्री अनन्दी प्रसाद जी में भी अच्छी कवित्व-शक्ति थी। मेरे संपादन-काल में उन्होंने 'सरस्वती' में जो पद्यात्मक संवाद लिखे, वे सचमुच अपूर्व हैं। हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा और बच्चन ने

जो ख्याति प्राप्त की वह तत्कालीन अन्य तरुण लेखकों ने नहीं प्राप्त की ।

साहित्य-जगत् में चिरतारुण्य बना रहता है । एक जाता है और दूसरा उसका स्थान आप से आप ले लेता है । कुछ विशेष समय तक कुछ लोगों की रचनाएँ विशेष लोकप्रिय हो जाती हैं । पर कुछ सभय के बाद उनकी वह लोकप्रियता नष्ट हो जाती है । मेरे प्रारंभिक साहित्यिक जीवन में जो श्रेष्ठ कवि माने जाते थे, उनके भी नाम को लोग भूलते जा रहे हैं । अधिकांश लोगों की रचनाएँ तो विलुप्त-सी हो गई हैं । कुछ वर्षों से हिंदी साहित्य में इतना अधिक भाव-परिवर्तन हो गया है कि यह कहना भी कठिन हो गया है कि किनमें कवित्व-कला का कितना अधिक सौष्ठव है । शिक्षक होने के कारण मैं तरुण छात्रों के ही बीच में रहता आया हूँ। यह देखा है कि पंत जी कि रचनाओं की अपेक्षा तरुण वर्ग निराला जी की रचनाओं की ओर विशेष आकृष्ट हैं । उसी प्रकार रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा की रचनाओं की अपेक्षा बच्चन जी की 'मधुशाला' ने हिन्दी के तरुण पाठकों के हृदय में अधिक गौरवपूर्ण स्थान बना लिया । नीरज की रचनाओं ने भी तरुण पाठकों को मुग्ध कर लिया है । मैंने यह भी देखा कि प्रसाद जी के प्रसिद्ध काव्य 'कामायनी' से अधिक स्पृहणीय दिनकर जी का 'कुरुक्षेत्र' हो गया । अयोध्यासिंह जी उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' और गुप्त जी के 'साकेत' ये दोनों केवल पाठ्यग्रंथ होने के कारण पठनीय रहे । कवित्व में जो रसानुभूति होती है, उसे प्राप्त करने के लिए तरुण-छात्र-वर्ग दूसरी कविताओं की ओर आकृष्ट हो गये हैं ।

कथा-साहित्य में प्रेमचंद जी उपन्यास-सम्राट हो गये थे । उनके बाद जैनेन्द्र जी ने बड़ी ख्याति प्राप्त की । प्रेमचंद जी की रचनाएँ तो अभी तक तरुण पाठकों के लिए पठनीय बनी हुई है, पर जैनेन्द्र जी अब अपनी लोकप्रियता खोते जा रहे हैं । यशपाल जी और भगवतीचरण वर्मा के

उपन्यास अभी तक पढ़े जाते हैं । पर भगवती प्रसाद बाजपेयी की कला-कुशलता पर तरुण पाठकों में एक उपेक्षा-भाव आ गया है । अब नये उपन्यासकारों की ओर उनका आग्रह बढ़ रहा है । कुछ तो यह समझते हैं कि नये उपन्यासकारों में ही कला की असली कुशलता है ।

हिंदी-साहित्य की इतनी क्षिप्रगति है कि अब पंत, महादेवी वर्मा रामकुमार वर्मा आदि कवि भी पुराने हो गए हैं । अब नई कविताओं के प्रति तरुणों का अधिक आकर्षण होता जा रहा है । नई कविताओं की तरह नई कहानियों ने भी साहित्य के क्षेत्र में कला को लेकर एक उग्र विवाद खड़ा कर दिया है । जब हिन्दी में छायावाद आया था तब कितने ही साहित्य-मर्मज्ञों ने उन रचनाओं में कोई गौरव नहीं देखा था, पर यह सभी ने अनुभव किया था कि अब एक क्राँतिकारी युग आ गया है । **पं० पद्मसिंह शर्मा जी ने कहा कि हिंदी की नवीन कविता में भाषा, भाव, शैली, सभी कुछ नए हैं और अपरिचित भी । कवि कुछ कह रहे हैं यह तो सुन पड़ता है, पर क्या कह रहे हैं, यह समझ में नहीं आता ।** यही बात नई कविताओं और नई कहानियों के सम्बन्ध में भी कही जा रही है । वे भी अधिकांश पाठकों के लिए बोधगम्य नहीं हैं, कम से कम उनसे साधारण पाठक कवित्व-रस नहीं पा सकते । पर यह भी सच है की विज्ञ समालोचकों के द्वारा उन कविताओं की बड़ी विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्याएँ की जा रहीं हैं । श्री बेनीपुरी जी ने एक बार कहा था कि आजकल आलोचना, इतिहास या संग्रह के नाम पर ऐसी पुस्तकें निकल रही हैं, जिनका उद्देश्य होता है, किसी खास आचार्यपीठ को प्रमुखता देना । इन आचार्य-पीठों का संगठन भी बड़ा अदभुत है, सियार की तरह एक कोने से आवाज उठी और फिर दूसरे कोने तक 'हुआ—हुआ' का शोर मच गया । आजकल उन्हीं प्रयोगों की पूछ है, जिनके लेखक किसी आचार्यपीठ से सम्बद्ध हैं ।

मैं अब एक पाठक के रूप में साहित्य-जगत् में विचरण कर रहा हूँ ।

प्राध्यापक होने के कारण मुझे पाठ्य-ग्रंथों के रूप में पुराने और नए साहित्यकारों की रचनाओं का अध्ययन करना पड़ता है। पाठ्य-पुस्तकों में जब निबंधों, कविताओं या कहानियों का संकलन किया जाता है, तब उनमें नए-नए साहित्यकारों को बराबर स्थान दिया जाता है। प्रेमचंदजी की कहानियों के साथ मैं ने रेणु, हरिशंकर परसाई, रमेश बक्षी और मोहन राकेश की कहानियों को भी पढ़ाया है। कविताओं के संकलन में भी अब नई कविताओं को स्थान मिल गया है। उसी के साथ कितने ही पुराने लेखकों की रचनाएँ उपेक्षणीय हो गई हैं। मैं भी यह अनुभव कर रहा हूँ कि साहित्य-जगत में जरा-जीर्णों के लिए स्थान नहीं है। जो रचनाएँ अपनी नवीनता की दीप्ति खो बैठती हैं, वे आप से आप विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं। काल के आघात को वही रचनाएँ सह पाती हैं, जिनमें चिरंतन तारुण्य के चिरंतन आनन्द का भाव रहता है। वे पाठकों के लिए चिर-नवीन बनी रहती हैं। मैं कह नहीं सकता कि आधुनिक रचनाओं में ऐसी कितनी रचनाएँ हैं, जो काल के आघात को सह लेंगी, परन्तु अभी मेरे लिए वही रचनाएँ स्पृहणीय हैं जिनमें मैं सच्चा कवित्व-रस पा रहा हूँ।

●